अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

# सर्वोदय जगत

वर्ष- 43, अंक- 07, 16-30 नवंबर 2019

**गांधी नैतिकता एवं सर्व समावेशी मानवीय मूल्यों के प्रतीक थे। आज गांधी की स्वीकार्यता, वैश्विक चेतना का हिस्सा बन गयी है। हिंसा और फासिज्म की शक्तियों को भी बाहर से यह दिखावा करना पड़ रहा है कि वे गांधी को स्वीकार करती हैं। साधु के वेष में ही रावण, सीता का अपहरण कर सका था।**

सर्व सेवा संघ
( अखिल भारत सर्वोदय मंडल )
द्वारा प्रकाशित

अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र
**सर्वोदय जगत**
सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक

**वर्ष : 43, अंक : 07, 16-30 नवंबर 2019**

*अध्यक्ष*
**महादेव विद्रोही**

*संपादक*
**बिमल कुमार**
*सहसंपादक*
**प्रेम प्रकाश**
**09453219994**
*संपादक मंडल*
**डॉ. रामजी सिंह भवानी शंकर 'कुसुम'**
**प्रो. सोमनाथ रोडे अरविन्द अंजुम,**
**रमेश ओझा अशोक मोती**

*संपादकीय कार्यालय*
**सर्व सेवा संघ**
**राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)**
**फोन : 0542-2440-385/223**
**ईमेल :** sarvodayajagat@gmail.com
Website : sssprakashan.com

**शुल्क**

| | | |
|---|---|---|
| एक प्रति | : | 05 रुपये |
| वार्षिक | : | 100 रुपये |
| आजीवन | : | 1000 रुपये |

खाता संख्या : 383502010004310
IFSC Code : UBIN0538353
Union Bank of India
Rajghat, Varanasi

## इस अंक में...

1. संपादकीय... 2
2. राष्ट्र की दरकती बुनियाद... 3
3. पूरी दुनिया में मूल आबादी झेल रही है... 4
4. दुनिया को नई लोकतांत्रिक क्रांति की... 5
5. सरकार के पास अर्थव्यवस्था को लेकर... 6
6. सावरकर को भारत रत्न देना आजादी... 7
7. वंदेमातरम् राष्ट्रगीत है, राष्ट्रीयता की... 11
8. धुंध में डूबा उत्तर भारत... 13
9. उपन्यास - 'बा'... 14
10. सवालों की दहलीज पर जवाबों की... 16
11. लोकविमर्श... 18
12. गतिविधियां एवं समाचार... 19
13. 2020 की सर्वोदय दैनंदिनी... 20

**संपादकीय**

# ग्राम-स्वराज्य के लिए किसान आंदोलन

ग्राम-स्वराज्य का आंदोलन कुछ कमजोर-सा पड़ने लगा है। इसका मतलब यह है कि जहां कई प्रकार के आंदोलन वर्तमान व्यवस्था के विरोध में चल रहे हैं, वहीं इस व्यवस्था के विकल्प की नींव कहां होगी, इसकी स्पष्टता नहीं है।

गांवों के लिए बहुत से कार्यक्रम चल रहे हैं, लेकिन वे ग्राम-स्वराज्य के अंग के रूप में नहीं चल रहे हैं। उदाहरण के तौर पर गांव तक भौतिक सुविधाओं व सेवाओं को पहुंचाने के कार्यक्रम या राहत पहुंचाने के कार्यक्रम। किसान आंदोलन व ग्रामीण मजदूरों के आंदोलन अलग-अलग स्तरों पर चल रहे हैं। गांव में कृषि प्रसंस्करण, शिल्पकारों के या ग्रामोद्योग की स्थापना नगण्य है। और इन्हें एक सूत्र में पिरोने का काम तो बिल्कुल ही नहीं हो रहा है।

किसान आंदोलन ग्राम-स्वराज्य एवं ग्राम स्वावलंबन की धुरी बने, ऐसा चिन्तन किसान आंदोलनों की मांगों में से प्रकट नहीं होता। वे सब्सिडी एवं कृषि ऊपज के मूल्यों तक ही अपने को सीमित रखते हैं। खेती के ऊपर वैश्विक बहुराष्ट्रीय निगमों का शिकंजा कसता जा रहा है। इससे खेती कैसे मुक्त होगी, यह भी किसान आंदोलनों के मुख्य लक्ष्य का हिस्सा नहीं है। इसी प्रकार किसान आंदोलन गांव के अन्य वर्गों जैसे ग्रामीण मजूरों व हस्त उद्योग के प्रति उदासीन है। इस कारण किसान आंदोलन समग्र गांव का आंदोलन बनने की क्षमता खोता जा रहा है।

ग्राम-समूहों की स्वायत्तता व स्वावलंबन का सवाल किसान आंदोलन के साथ जुड़े, इसके लिए जरूरी है कि विकल्प के निर्माण के सवाल को भी आंदोलन अपने केन्द्र-बिन्दु पर लाये। खेती में स्वावलंबन तो बुनियादी बात है ही, किन्तु इसके साथ-साथ सिंचाई व जल-प्रबंधन, ऊर्जा, बुनियादी संरचनाओं का निर्माण, स्वास्थ्य, शिक्षा, भूमि-उपभोग आदि क्षेत्रों में स्वावलंबन के प्रयोग को किसान आंदोलन के साथ जोड़ना होगा। कृषि उपजों के प्रसंस्करण, खादी व ग्रामोद्योग, स्वावलंबी गांव-समूहों की रीढ़ बनें, इस दिशा में भी वैकल्पिक-रचनात्मक कार्यक्रमों को बढ़ाना होगा तथा इन कार्यक्रमों को किसान आंदोलन का हिस्सा बनाना होगा।

इस पूरे सवाल को तीन हिस्से में समझना होगा। एक, ग्राम का अर्थ सरकारी राजस्व गांव या ग्राम पंचायत के परिसीमन वाला गांव नहीं। यह मोटे तौर पर प्राकृतिक रूप से जुड़े 20-25 गांवों का एक संकुल जैसा हो। अर्थात् गांव वह, जिसमें यदि एक गांव वाला जोर से आवाज लगाये तो पूरा गांव सुन ले तथा ग्राम-संकुल वह, जिस दूरी को एक गांव वाला आधे घंटे में पैदल तय कर ले। ये स्वाभाविक दायरे गांव व ग्राम-संकुल का निर्माण करें। ये ग्राम-संकुल ही ग्राम-स्वराज्य का आधार बनें, और वे परिसीमन क्षेत्र होने के बजाय लहरों के वृत्त के समान फैलने वाले हों।

ग्राम-स्वराज्य का दूसरा पहलू यह है कि मोटे तौर पर गांव में जो पूंजी का निर्माण हो, उस पूंजी का विनियोग गांव में ही हो। गांव के शोषण का मुख्य कारण यही रहा है कि गांव में जो बचत है, वह अनाज के रूप में मंडी के माध्यम से बाहर चली जाती है। यह पूंजी गांव की पूंजी बनने के बजाय बिचौलिये या अनाज व्यवसायी की पूंजी बन जाती है। अनाज व्यवसायी की पूंजी बने, इसके लिए अनाज की कीमत कम से कम रखी जाती है। दूसरे अगर कैश (धन) के रूप में बचत रखी जाती है तो यह बैंक के माध्यम से, बैंक से ऋण लेने वाले की पूंजी बन जाती है। इस प्रकार गांव की बचत या अतिरिक्त धन (surplus) का दोहन, गांव को कमजोर करने व उसका शोषण करने का माध्यम बन जाता है।

इस दोहन व शोषण को रोकने के लिए, तीसरे स्तर पर कार्य करना होगा। वह यह कि जमीन व ग्रामीण श्रम, इन दोनों को शोषणकारी-दोहनकारी बाजार के दायरे से बाहर रखना होगा। श्रम और प्रकृति (जमीन) की संयुक्तता से पूंजी या अतिरिक्त धन (surplus) का निर्माण होता है, और इसी पूंजी या अतिरिक्त धन को पाने के लिए शोषणकारी-दोहनकारी बाजार श्रम और प्रकृति (जमीन) को अपने दायरे में ले लेना चाहता है। इसके लिए बहुराष्ट्रीय निगमों के दखल के हर स्वरूप का विरोध करना होगा, उनका बहिष्कार करना होगा। किसान आंदोलन व ग्रामीण आंदोलन को इन नयी जिम्मेदारियों को उठाना होगा। यही समय की मांग है।

**–बिमल कुमार**

# राष्ट्र की दरकती बुनियाद को बचाने के लिए किसका इंतज़ार!

❑ उर्मिलेश

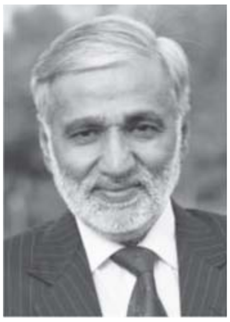

देश में आर्थिक सुधारों की शुरुआत के साथ एक शब्द उछला था- विनिवेश। पूर्ण या आंशिक निजीकरण के लिए सुंदर-सा नाम! कांग्रेसी शासन में इसकी शुरुआत हुई लेकिन विनिवेश के नाम पर बाक़ायदा एक अलग केंद्रीय मंत्रालय खड़ा करने का दुस्साहस 'जनसंघी-डीएनए' वाले एनडीए-1 ने ही दिखाया। मज़े की बात है कि इस सरकार में बीते जमाने के सबसे तेज़तर्रार समाजवादी जार्ज फर्नांडीज भी शामिल थे और काफ़ी प्रभावशाली हैसियत के साथ। एक जमाने में देश की राजनीति में सिर्फ दो संगठन- जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी ही सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को सीमित कर उन्हें निजी क्षेत्र और उद्योगपतियों को सौंपने की खुली वकालत करते थे। लेकिन आर्थिक सुधार के दौर ने उस विमर्श को ही बदल डाला। जब अटल बिहारी वाजपेयी की अगुवाई में एनडीए-1 की सरकार बनी तो बाक़ायदा विनिवेश मंत्रालय बन गया। सार्वजनिक क्षेत्र के कई बड़े उपक्रमों को निजी हाथों में औने-पौने दाम पर बेचा गया। कई विवाद भी उठे। पर सिलसिला बढ़ता रहा। मौजूदा सरकार ने अब उन क्षेत्रों को भी निजी हाथों में सौंपने का सिलसिला तेज़ किया है, जिनके बारे में पहले कोई सोच भी नहीं सकता था। रेलवे, बीएसएनएल-एमटीएनएल, एयर इंडिया से लेकर तमाम बड़े सार्वजनिक उपक्रमों पर निजी क्षेत्र के वर्चस्व की धमक तेज़ हो गई है। पश्चिम के कई विकसित पूँजीवादी देश आज तक जिन कुछ सेक्टर्स को सरकारी क्षेत्र में रखे हुए हैं, भारत में वैसे उपक्रमों को भी निजी हाथों में बेचा जा रहा है। और हैरत की बात यह है कि कोई संगठित शक्ति बोलने या विरोध के लिए आगे नहीं आ रही है। इस भयावह दौर को क्या कहेंगे?

दमन-उत्पीड़न और ग़ैर-क़ानूनी हथकंडों के इस्तेमाल के मामले में उत्तर प्रदेश की पुलिस शुरू से ही बेहद कुख्यात रही है। लोगों की स्मृति से पुलिस के बारे में कही जस्टिस आनंद नारायण मुल्ला की वे मशहूर लाइनें कभी ग़ायब नहीं होतीं, जिसमें उन्होंने इस शासकीय संगठन को 'अपराधियों का सबसे संगठित गिरोह' कह दिया था। यह छठे दशक की बात है। कई आयोग बने और ढेर सारे फ़ैसले आए। पर हालात कितना बदले हैं? अगर यूपी की स्थिति देखें तो मायूसी होती है, क्या सचमुच ऐसे तंत्र में लोक सुरक्षित है?

हालात सुधरने के बजाय लगातार बिगड़ रहे हैं। अचरज कि झाँसी के पुष्पेन्द्र यादव और बदायूँ के बृजपाल मौर्य की 'पुलिसिया हत्या' पर देश की सर्वोच्च सत्ता, मुख्यधारा मीडिया, न्याय विधान और मानवाधिकार के संवैधानिक संस्थान इस दौरान लगभग खामोश रहे। लोग सड़कों पर उतरे और उन्होंने सत्ता की निरंकुशता के साथ ही लोकतंत्र की इन संस्थाओं की खामोशी पर भी सवाल उठाए। पर क्या फ़र्क पड़ता है! सवाल उठाने वाले साधारण लोग थे।

बिहार में बारिश-बाढ़ की तबाही और सत्ता की आपराधिक निष्क्रियता, बंगाल में दिन-दहाड़े होती हत्याएं, मुंबई में मेट्रो के पार्किंग शेड के लिए आरे की गझिन हरियाली से रातों-रात 2000 से ज्यादा पेड़ों का सफ़ाया, कश्मीर में निरंकुशता का तांडव और एनआरसी के बहाने एक समुदाय विशेष के खिलाफ़ संविधान विरोधी हथकंडों की बड़ी आज़माइश! और भी ढेर सारे मामले हैं! ये तमाम उदाहरण यह बताने के लिए काफ़ी हैं कि किसी देश में लोकतंत्र सिर्फ एक अच्छा संविधान पा जाने से या हर पाँच साल के अंतराल पर चुनाव कराने की औपचारिकता पूरी करने भर से नहीं स्थापित होता।

भीमा-कोरेगाँव का सच देखना हो तो अभी आगे देखिए! पता नहीं, क्या-क्या होने वाला है? पत्रकार और मानवाधिकार कार्यकर्ता गौतम नवलखा मामले में न्यायालय से फ़ैसला आना है। भीमा-कोरेगाँव में हिंसा किसी और ने की और कराई। पर एफ़आईआर के बावजूद उन तत्वों का बाल भी बाँका नहीं हुआ। शिव प्रतिष्ठान के विवादास्पद संभाजी भिड़े और अन्य लोगों पर लंबित मामलों को महाराष्ट्र की फडणवीस सरकार ने वापस लेने का फ़ैसला किया। पर मशहूर अधिवक्ता और मानवाधिकार कार्यकर्ता सुधा भारद्वाज सहित आधे दर्जन लोगों को जेल में डाल दिया गया। अब लेखक और मानवाधिकार कार्यकर्ता नवलखा को भी उसी मामले में लपेटने का जुगाड़ किया गया है। 'सरकारी-जुगाड़' सफल होता है या विफल, यह कोर्ट के फ़ैसले से तय होगा। उसी महाराष्ट्र में अभी-अभी चुनाव खत्म हुए हैं। पर भीमा-कोरेगाँव का मामला चुनाव में कोई बड़ा मुद्दा नहीं था। मुख्य विपक्षी गठबंधन कांग्रेस-एनसीपी के किसी मंच से उसका उल्लेख तक नहीं किया गया है। हरियाणा हो या महाराष्ट्र-ये किस तरह के चुनाव हैं, जिसमें समाज और लोगों के वास्तविक मुद्दे नज़र तक नहीं आते! किसान, नौजवान, दलित, कामगार, महिलाओं और अन्य लोगों की मुश्किलों पर बात नहीं हो रही है।

महाराष्ट्र और हरियाणा के चुनावों को कवर करने गये कई पत्रकार-मित्रों से मैंने फ़ोन पर बातचीत की। इनमें कुछ दिल्ली से थे और ज्यादातर उक्त दोनों प्रदेशों में काम करते हैं। सबने एक स्वर में बताया कि इन प्रांतीय चुनावों के नतीजों में लोगों की उतनी दिलचस्पी नहीं नज़र आ रही है। मामला चुनाव के बाद सिर्फ सत्ता-प्रबंधन या मुद्रा-ज़ोर का नहीं है, ज़बर्दस्त मीडिया-मैनेजमेंट के ज़रिये समाज में पहले से ही एकतरफ़ा माहौल बनाया जा चुका है। विपक्ष दयनीय दिख रहा है क्योंकि उसके पास न तो कोई नया एजेंडा है, न नया नेतृत्व है और न किसी तरह का सियासी जोश है। ईडी-सीबीआई का डर अलग से है। कॉरपोरेट की तरफ़ से चंदा भी नहीं आ रहा है- सब एकतरफ़ा जा रहा है!

दिल्ली और यूपी सहित हिन्दी भाषी अन्य क्षेत्रों में एक बार फिर 'अयोध्या' पर गर्मी पैदा करने की कोशिशें परवान पर हैं। हिन्दी चैनलों का ज्यादा ज़ोर बस इसी पर है। जाहिर है, सर्वोच्च न्यायालय से फ़ैसला आना है। क्या न्यायिक फ़ैसला होगा? कैसा होगा? उसके बाद क्या होगा? ऐसे बहुतेरे सवाल हैं! इस बीच एक दिन की खलल पड़ी! बुरा हो रॉयल स्वीडिश एकेडमी वालों का, जिसने भारतीय मूल के अमेरिकी अर्थशास्त्री अभिजीत बनर्जी और उनकी पत्नी एस्तेय को अर्थशास्त्र में सन् 2019 के नोबल से सम्मानित करने का एलान कर दिया! अभिजीत 'एंटी-नेशनल टुकड़े-टुकडे गैंग' वाले जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) के स्नातकोत्तर हैं। वह आज भी जेएनयू के प्रशंसक हैं।

समाज का बड़ा हिस्सा अपने ही सामाजिक और राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध काम करने वालों के लिए तालियाँ बजा रहा है। ऐसे भटके हुए समाज को बटोरना, समझाना और फिर सुसंगत सामाजिक-राष्ट्रीय मुद्दों पर संगठित करना कोई आसान काम नहीं है। सचमुच भारत को आज एक बड़े नेतृत्व, बड़े जन-संगठन और व्यापक नेटवर्क का शिद्दत से इंतज़ार है। पर आएगा कहां से? नये नेतृत्व या संगठन का उभरना कोई जादुई प्रक्रिया नहीं होती, घटना-प्रतिघटना से जूझते समाज में एक ख़ास सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया में उभरते हैं नये नेतृत्व और नये संगठन। सिर्फ स्वतःस्फूर्तता ही नहीं, आत्मगत प्रयासों की भी ऐतिहासिक भूमिका होती है। अपने देश में ऐसे दो बड़े उदाहरण मौजूद हैं- महात्मा गाँधी और डॉ. भीमराव आम्बेडकर। दोनों दार्शनिक और विचार के स्तर पर काफ़ी अलग-अलग हैं पर दोनों ऐसे बड़े नेता हैं, जिन्होंने भारत के आधुनिक इतिहास को बिल्कुल नये आयाम दिए। राष्ट्र के निर्माण की वैचारिक बुनियाद बनाई। एक की नृशंस हत्या की गई और दूसरे को सबने मिलकर दरकिनार किया। पर आम्बेडकर और उनके विचारों की आज पूरे देश में धूम है। गाँधी आज भी राष्ट्रपिता हैं। पर दोनों का राष्ट्र आज सचमुच ख़तरे में है। ❑

# पूरी दुनिया में मूल आबादी झेल रही है गरीबी और उपेक्षा का दंश

**–संयुक्त राष्ट्र संघ**

यूएन ने पहली बार मूल आबादी पर रिपोर्ट जारी की है। भयंकर गरीबी और उच्च बेरोजगारी के मामले में भारत की तुलना उप-सहारा अफ्रीकी देशों से की गई है।

दुनिया की एक-तिहाई देशी यानी मूल आबादी (इंडीजीनस पॉपुलेशन) इस वक्त सभी तरह की क्रूर अमानवीय यातनाएं झेल रही है। भयंकर गरीबी, उच्च बेरोजगारी और गंभीर स्वास्थ्य समस्याओं ने इन्हें घेर लिया है। पूरी दुनिया की मूल आबादी की 50 फीसदी से अधिक युवा और वयस्क आबादी टाइप – 2 डायबिटीज से ग्रसित हैं। इतना ही नहीं, विश्व के हर देश में इनकी स्थिति बदतर है। गरीबी, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, मानवाधिकार, पर्यावरण और अन्य ऐसे ही पैमाने हैं जिन पर देशज यानी मूल आबादी की स्थिति खराब बतायी गई है।

यह बात संयुक्त राष्ट्र (यूएन) की ओर से पहली बार जारी की गई मूल आबादी की स्थिति रिपोर्ट में कही गई है। यूएन ने कहा है कि यह उनकी ओर से प्राथमिक आकलन है, बाद में टाइप-2 डायबिटीज से ग्रसित लोगों की संख्या और ज्यादा बढ़ सकती है। रिपोर्ट के मुताबिक देशज लोग पूरी दुनिया में विषमता के शिकार हैं। वह स्वास्थ्य समस्याओं, अपराध, मानावाधिकार हनन जैसी समस्याओं का भी सामना कर रहे हैं।

यूएन रिपोर्ट के मुताबिक भारत की भी मूल आबादी भयंकर गरीबी और उच्च बेरोजगारी दर के कुचक्र में फंसी है। यूएनडीपी के मानव गरीबी सूचकांक की रैंकिंग के हवाले से गरीबी और बेरोजगारी के मामले में भारत की मूल आबादी की तुलना उप-सहारा अफ्रीकी देशों से की गई है, जो 25वें रैंक पर मौजूद हैं।

जबकि 2006 में ऑस्ट्रेलिया में मूल आबादी की बेरोजगारी दर 15.6 फीसदी थी, जो गैर मूल आबादी की तुलना में तीन गुना ज्यादा बढ़ चुकी है। वहीं आय के मामले में भी मूल आबादी गैर मूल आबादी की तुलना में आधे पर है। यही हाल न्यूजीलैंड का भी है।

रिपोर्ट में टीबी, कुपोषण और आत्महत्या के मामले में भी कई चौंकाने वाले तथ्य हैं। मसलन कुपोषण के मामले में नॉर्थ अमेरिका की मूल आबादी मोटापा, डायबिटीज और हृदयरोग से ग्रसित है। वहीं, एरिजोना में रहने वाली पिमा इंडियन ट्राइब्स में सबसे ज्यादा डायबिटीज है। 30 से 34 वर्ष उम्र के 50 फीसदी युवा डायबिटीज के शिकार हैं।

संयुक्त राज्य के भीतर सामान्य आबादी की तुलना में मूल अमेरिकियों में 600 गुना ज्यादा ट्यूबरक्यूलोसिस (टीबी) और 62 फीसदी ज्यादा तयशुदा आत्महत्या के मामले हैं। ऑस्ट्रेलिया में मूल आबादी का बच्चा सामान्य आबादी की तुलना में 20 वर्ष पहले ही मर सकता है। जीवन प्रत्याशा की यह खाई नेपाल में भी ऐसी ही है। वहां भी मूल आबादी के 20 वर्ष कम जीने की स्थिति है। जबकि ग्वांतेमाला में 13 वर्ष और न्यूजीलैंड में यह 11 वर्ष है। इक्वेडॉर में राष्ट्रीय औसत से 30 फीसदी ज्यादा जोखिम है कि वहां की मूल आबादी में किसी को गले का कैंसर हो जाए।

दुनिया की कुल आबादी में करीब पांच फीसदी यानी 37 करोड़ लोग मूल यानी देशी (इंडीजीनस पॉपुलेशन) आबादी से हैं। वहीं, दुनिया के 90 करोड़ अत्यंत गरीबों में इनकी हिस्सेदारी एक-तिहाई है। प्रत्येक दिन इनको कहीं न कहीं क्रूर हिंसा का सामना करना पड़ता है। नीतियों और जमीन की असमानता, जबरन स्थानांतरण, जमीनों के अधिकार से वंचित रखना और मिलिट्री बल के जोर से डराना और धमकाना आदि झेलना होता है। यूएन ने कहा है कि विकसित देश हों या विकासशील देश, दोनों जगहों पर स्थिति बेहद खराब है।

देशी लोगों की स्थिति पर आधारित यूएन रिपोर्ट के चार हिस्से किए गए हैं। पहले हिस्से में गरीबी और कल्याण शामिल है। दूसरे अध्याय में संस्कृति और तीसरे अध्याय में पर्यावरण व चौथे पाठ में समानांतर शिक्षा की बात की गई है।

# दुनिया को नई लोकतांत्रिक क्रांति की ज़रूरत है

❑ रोमन क्रिज़नॉरिक*

लोकतांत्रिक सरकारों के बारे में स्कॉटलैंड के दार्शनिक डेविड ह्यूम ने साल 1739 में लिखा था कि जनता की सरकारों की शुरुआत इसलिए हुई क्योंकि इंसान अपनी संकुचित सोच की वजह से वर्तमान के बारे में ही सोचता रहता था, न कि भविष्य के लिए. डेविड ह्यूम का मानना था कि सरकारी संस्थाएं, संसदीय परंपरा और जनप्रतिनिधि हमारे स्वार्थ की उड़ान पर लगाम लगाएंगे और समाज को दूरदृष्टि देने का काम करेंगे. पर दुनिया भर में आज के राजनीतिक माहौल को देखें, तो हालात इसके ठीक उलट लगते हैं. जो उम्मीद डेविड ह्यूम को लोकतंत्र से थी, वह टूटती हुई साफ़ दिखती है. आज हमारी राजनीतिक व्यवस्था फौरी चुनौतियों से निपटने का ज़रिया भर बन गई है.

किसी भी लोकतांत्रिक सरकार में भविष्य को लेकर कोई दूरदृष्टि नहीं दिखती. वे आने वाली नस्लों के बारे में नहीं सोचते. नेता तो अगले चुनाव से आगे की सोच ही नहीं पाते. नियमित रूप से चुनाव होना लोकतंत्र का अभिन्न अंग है. लेकिन, इस बुनियादी व्यवस्था ने नेताओं को भविष्य की फिक्र करने से आज़ादी दे दी है. वे बस अगला चुनाव जीतने की जुगत में लगे रहते हैं. यही वजह है कि अपराध बढ़ने पर अपराधियों के एनकाउंटर या गिरफ्तारी की खानापूर्ति होती है. इसके सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है. अंतरराष्ट्रीय विवादों को हल करने में देशों के अपने स्वार्थ आड़े आते हैं.

इस धरती को बचाने और पर्यावरण को आने वाली पीढ़ियों के लिए साफ़ रखने की जिम्मेदारी आज कोई नहीं लेना चाहता. पृथ्वी से जीवों की नस्लें विलुप्त हो रही हैं, लेकिन जलवायु परिवर्तन की चुनौती से निपटने में अपने फौरी स्वार्थ का बलिदान कोई देश नहीं करना चाहता. आधुनिक लोकतंत्र की ये संकुचित सोच भविष्य की पीढ़ियों को आज की ज़रूरतों का गुलाम बना रही है.

**भविष्य को गुलाम बनाने वाला लोकतंत्र**

इस समस्या की जड़ लोकतंत्र की बुनियाद में ही है. चुनाव जीतने की जुगत में लगे नेता, वोटर को लुभाने के लिए टैक्स में छूट देने, बड़े कारोबारियों को मनमानी करने की इजाज़त देने और पर्यावरण को लेकर समझौते करने को तैयार रहते हैं. इसका बोझ आने वाली पीढ़ियों को उठाने के लिए छोड़ दिया जाता है. भविष्य के लिए शिक्षा में निवेश और पर्यावरण बेहतर करने की योजनाओं में निवेश से बचा जाता है. निकट भविष्य के ऐसे फ़ायदों के नुक़सान का बोझ आने वाली पीढ़ियों पर डाल दिया जाता है. मौजूदा पीढ़ी की ज़रूरतों को देखते हुए न तो पर्यावरण की फिक्र होती है, न शिक्षा में निवेश होता है, न ही ऐसी तकनीक विकसित किए जाने पर ज़ोर होता है, जिससे आने वाली नस्लों के लिए हम सुरक्षित और साफ़-सुथरी धरती को छोड़ जाएं.

यही वजह है कि आज दुनिया भर में हज़ारों स्कूली छात्र हड़ताल कर रहे हैं और विरोध प्रदर्शन से अपने बेहतर भविष्य की फिक्र करने की मांग कर रहे हैं. वे चाहते हैं कि अमीर देश अपने कार्बन उत्सर्जन को घटाएं ताकि धरती गर्म न हो. आने वाली पीढ़ियों को भी साफ़ हवा में सांस लेने का मौक़ा मिले. पर, तमाम लोकतांत्रिक देश, भविष्य की चुनौतियों को दबाकर रखना चाहते हैं. जानकार कहते हैं कि आज के लोकतंत्र भविष्य की पीढ़ियों को गुलाम बना रहे हैं. वे पर्यावरण के ख़तरों, तकनीक के नुक़सान, परमाणु कचरे और सरकारों के क़र्ज का बोझ भविष्य पर डाल रहे हैं.

**भविष्य की चिंता नहीं**

जब ब्रिटेन ने साम्राज्यवाद के दौर में ऑस्ट्रेलिया पर क़ब्ज़ा किया था तो उसने इस ज़मीन को किसी की भी ज़मीन न होने का सिद्धांत देते हुए उस पर अपना हक़ जमा लिया था. अंग्रेज़ों का मानना था कि ऑस्ट्रेलिया के मूल निवासियों का उस ज़मीन पर कोई अधिकार नहीं है. इसी तरह आज की पीढ़ियां आने वाली नस्लों की चिंता करने के बजाय भविष्य को शून्य मानकर फ़ैसले ले रही हैं. वे भविष्य को अपना गुलाम ही मानती हैं, जो उनके ग़लत फ़ैसलों का बोझ उठाएगा. इसीलिए आज ज़रूरत है कि लोकतंत्र अपने आप को नए नज़रिए से देखे. अपनी संकुचित सोच के दायरे से बाहर निकले. भविष्य को अपना गुलाम समझने वाली सोच से आज़ाद हो. ये हमारे दौर की सबसे बड़ी चुनौती है.

कुछ लोगों का मानना है कि लोकतंत्र के लिए ये संभव नहीं है. इसलिए मार्टिन रीस जैसे ब्रिटिश खगोलशास्त्री तो नरमदिल तानाशाही की वक़ालत करते हैं. मार्टिन रीस का मानना है कि लंबे वक्त की चुनौतियों से निपटने के लिए हमें ऐसे तानाशाह की ज़रूरत है, जो हम सबकी बिनाह पर भविष्य के लिए फ़ैसले ले सके. वे इसके लिए चीन की मिसाल देते हैं, जिसने भविष्य को देखते हुए सौर ऊर्जा में भारी निवेश किया है. लेकिन, नरमदिल तानाशाही की वक़ालत करने वाले रीस ये भूल जाते हैं कि चीन का मानवाधिकार का रिकॉर्ड बुरा है. फिर, स्वीडन जैसा देश बिना तानाशाही के भी आज अपनी ज़रूरत की 60 प्रतिशत बिजली ऐसे स्रोत से हासिल करता है, जिन्हें फिर से इस्तेमाल किया जा सकता है. वहीं, चीन में ये अनुपात महज़ 26 प्रतिशत है. इसी तरह इसराइल में 2001 से 2006 तक भविष्य की पीढ़ियों के लिए एक लोकपाल नियुक्त किया गया था. हालांकि बाद में ये पद ख़त्म कर दिया गया.

**कोई तानाशाह हमेशा नरमदिल रहेगा, इसकी गारंटी कौन लेगा.**

लंबी दूरी की सोच रखने का सबसे अच्छा उदाहरण ब्रिटेन के राज्य वेल्श ने पेश किया है. यहां पर भविष्य की पीढ़ियों की बेहतरी के लिए एक कमिश्नर नियुक्त किया गया है. साल 2015 में इसके लिए क़ानून बनाया गया था. ये कमिश्नर योजनाएं बनाने वालों के साथ बैठकर भविष्य की फिक्र करता है. उन्हें सिर्फ फौरी समस्याओं के बारे में सोचने से रोकता है और भविष्य को ध्यान में रखकर योजनाएं बनाने के लिए प्रेरित करता है. अब ये फॉर्मूला पूरे ब्रिटेन में लागू करने की मांग हो रही है.

अमरीका के मूल निवासियों के बीच एक सिद्धांत सातवीं पीढ़ी का था. जिसमें 150 साल बाद आने वाले लोगों के बारे में सोचकर क़दम उठाए जाते थे. अब वही सोच आधुनिक लोकतंत्र में लाने की कोशिश हो रही है. वहां ऑवर चिल्ड्रेन ट्रस्ट ने भविष्य की पीढ़ियों के क़ानूनी अधिकार की लड़ाई शुरू की है. इस ट्रस्ट ने अमरीकी सरकार के खिलाफ़ मुक़दमा कर दिया है. वादियों में ज्यादातर छात्र और किशोर शामिल हैं. उनका कहना है कि अमरीकी सरकार ऐसी नीतियों पर काम कर रही है जो भविष्य की पीढ़ियों को नुक़सान पहुंचाएंगी.

लॉस एंजेलेस की कैलिफॉर्निया यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर एन कार्लसन कहती हैं कि इस मुक़दमे को बच्चों ने दाखिल किया है. ये अच्छी बात है कि बच्चे भविष्य की सोच रहे हैं. अगर वे सरकार के खिलाफ़ ये मुक़दमा जीत जाते हैं, तो ये दुनिया भर के लिए बड़ी मिसाल होगी.

हालांकि कुछ लोग इसका विरोध ये कहकर कर रहे हैं कि इससे लोकतांत्रिक व्यवस्था में बुनियादी बदलाव नहीं आएगा. कनाडा के डेविड सुज़ुकी जैसे पर्यावरणविद ये सलाह देते हैं कि राजनीतिक दलों और राजनेताओं के बजाय आम जनता के बीच से कुछ लोगों को चुनकर संसद भेजा जाए, जो 6 साल तक वहां रहें और नीतियां बनाएं. ये राजनीतिक दलों की निकट भविष्य वाली संकुचित सोच से आज़ाद रहेंगे. उन्हें चुनाव की भी चिंता नहीं करनी होगी.

जापान में फ्यूचर डिज़ाइन नाम से एक आंदोलन शुरू हुआ है. इसके अगुआ तत्सुयोशी सैजो हैं. जो क्योटो के रिसर्च इंस्टीट्यूट ऑफ़ ह्यूमेनिटी के अर्थशास्त्री हैं. वे छात्रों को दो गुटों में बांटते हैं. इनमें से एक आज के लिए नीतियों पर चर्चा करता है, तो दूसरा गुट भविष्य के बारे में सुझाव देता है. इस आंदोलन का मक़सद जापान की सरकार को भविष्य का मंत्रालय बनाने के लिए तैयार करना है.

**इन सभी प्रयासों से क्या होगा?**

हम ये कह रहे हैं कि इस वक्त दुनिया बड़े राजनीतिक बदलाव की गवाह बन रही है. ऐसे आंदोलन आगे चलकर और भी तेज़ होंगे. क्योंकि जलवायु परिवर्तन और तकनीक के बढ़ते ख़तरों से भविष्य की पीढ़ी ख़तरा महसूस कर रही है. लोकतंत्र ने अपनी शुरुआत से लेकर कई बार ख़ुद में बदलाव किए हैं. अपने आप को फिर से खोजा है, तराशा है. हो सकता है कि नई लोकतांत्रिक क्रांति बस आने ही वाली हो.

*(लेखक बीबीसी के संवाददाता हैं)* ❑

# सरकार के पास अर्थव्यवस्था को लेकर कोई दृष्टिकोण नहीं

## रिजर्व बैंक के पूर्व गवर्नर और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के मुख्य अर्थशास्त्री रघुराम राजन का बयान

रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया के पूर्व गवर्नर रघुराम राजन ने नरेंद्र मोदी सरकार की आलोचना करते हुए कहा है कि बहुसंख्यकवाद और निरंकुशता से देश अंधकार में जाएगा और अस्थिरता बढ़ेगी. भारत की अर्थव्यवस्था में वृद्धि दर टिकाऊ नहीं है और लोकप्रिय नीतियों के कारण ख़तरा है कि अर्थव्यवस्था कहीं लातिन अमरीकी देशों की तरह न हो जाए.

उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था में अभी की सुस्ती के लिए नोटबंदी और जीएसटी को जिम्मेदार ठहराया है. अमरीका की ब्रॉन यूनिवर्सिटी में ओपी जिंदल लेक्चर में राजन ने कहा कि सरकार पर प्रोत्साहन पैकेज को लेकर काफ़ी दबाव है.

रघुराम राजन आईएमएफ़ के मुख्य अर्थशास्त्री भी रहे हैं. राजन ने भारतीय अर्थव्यवस्था में आई रुकावट के लिए मोदी सरकार में सारी शक्तियों के केंद्रीकृत होने को जिम्मेदार बताया है.

उन्होंने कहा कि मोदी ने अपने पहले कार्यकाल में अर्थव्यवस्था के लिए कुछ अच्छा नहीं किया क्योंकि इस सरकार में सारी शक्तियां एक जगह थीं. ऐसे में सरकार के पास अर्थव्यवस्था को लेकर कोई दृष्टिकोण नहीं था. मंत्रियों के पास कोई ताक़त नहीं थी. ब्यूरोक्रेट्स फ़ैसले लेने को लेकर अनिच्छुक थे. गंभीर सुधार के लिए कोई आइडिया नहीं था. यहां तक कि सीनियर अधिकारियों को बिना किसी सबूत के हिरासत में ले लिया गया. मैं इस बात को लेकर दुखी हूं कि पूर्व वित्त मंत्री को बिना किसी जांच के जेल में कई हफ्तों से रखा गया है. संस्थानों की कमज़ोरी से सभी सरकारों के निरंकुश बनने की आशंका रहती है. ऐसा 1971 में इंदिरा गांधी के वक्त में भी था और अब 2019 में मोदी के वक्त में भी है.

# सावरकर को भारत रत्न देना आज़ादी के नायकों का अपमान है

❑ सुभाष गाताड़े

क्या ऐसा शख्स, जिसने अंग्रेज़ सरकार के पास माफ़ीनामे भेजे, जिन्ना से पहले धर्म के आधार पर राष्ट्र बांटने की बात कही, भारत छोड़ो आंदोलन के समय ब्रिटिश सेना में हिंदू युवाओं की भर्ती का अभियान चलाया, भारतीयों के दमन में अंग्रेज़ों का साथ दिया और देश की आज़ादी के अगुआ महात्मा गांधी की हत्या की साजिश का सूत्र संचालन किया, वह किसी भी मायने में भारत रत्न का हक़दार होना चाहिए?

वक्त की निहाई अक्सर बड़ी बेरहम मालूम पड़ती है. अपने-अपने वक्त के शहंशाह, अपने-अपने जमाने के महान रणबांकुरे या आलिम सभी को आने वाली पीढ़ियों की सख्त टीका-टिप्पणियों से रूबरू होना पड़ा है.बड़ी से बड़ी ऐतिहासिक घटनाएं, भले जिन्होंने समूचे समाज की दिशा बदलने में अहम भूमिका अदा की हो या बड़ी से बड़ी ऐतिहासिक शख्सियतें, जिन्होंने धारा के विरुद्ध खड़ा होने का साहस कर उसे मोड़ दिया हो, कोई भी कितना भी बड़ा हो, उसकी निर्मम आलोचना से बच नहीं पाया है.

यह अकारण ही नहीं कहा जाता कि आने वाली पीढ़ियां पुरानी पीढ़ियों के कंधों पर सवार होती हैं. जाहिर है, वे ज्यादा दूर देख सकती हैं, पुरानी पीढ़ियों द्वारा संकलित, संशोधित ज्ञान उनकी अपनी धरोहर होता है, जिसे जज्ब करके वे आगे निकल जा सकती हैं.समाज की विकास यात्रा को वैज्ञानिक ढंग से देखने वाले शख्स के लिए हो सकता है, यह बात भले ही सामान्य मालूम पड़े, लेकिन समाज के व्यापक हिस्से में जिस तरह के अवैज्ञानिक और पश्चगामी चिंतन का बोलबाला रहता है, उसमें ऐसी कोई भी बात उसे आसानी से पच नहीं पाती.

## सावरकर और उनकी गतिविधियां

घटनाओं और शख्सियतों का आदर्शीकरण करने की, उन्हें अपने दौर और अपने स्थान से काटकर सार्वभौमिक मानने की जो प्रवृत्ति समाज में विद्यमान रहती है, उसके चलते समाज का बड़ा हिस्सा ऐसी आलोचनाओं को बर्दाश्त नहीं कर पाता. वैसे बात-बात पर आस्था पर हमला होने का बहाना बनाकर सड़कों पर उतरने वाली हुड़दंगी बजरंगी मानसिकता भले ही ऐसी प्रकट समीक्षा को रोकने की कोशिश करे, लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि कहीं प्रकट तो कहीं प्रच्छन्न रूप से यह आलोचना निरंतर चलती ही रहती है। उन्हीं में नये विचारों के वाहक अंकुरित होते रहते हैं, जो फिर समाज को नये पथ पर ले जाते हैं.फिलवक्त विनायक दामोदर सावरकर, जिन्हें उनके अनुयायी 'स्वातंत्र्यवीर' नाम से पुकारते हैं, जो युवावस्था में ही ब्रिटिश विरोधी आंदोलन की तरफ आकर्षित हुए थे, जो बाद में कानून की पढ़ाई करने के लिए लंदन चले गए, जहां वह रेडिकल राजनीतिक गतिविधियों में जुड़ते गए थे, इसी किस्म की पड़ताल के केंद्र में है. इसकी फौरी वजह महाराष्ट्र के चुनावों के दौरान सत्ताधारी भाजपा द्वारा किया गया यह वादा है कि वह उन्हें भारत रत्न से नवाजना चाहती है. ऐसा नहीं है कि उन्हें सम्मानित करने की बात पहली दफा उठी है या उनकी उपेक्षा होने की बात की चर्चा पहली दफा चली है.जनाब उद्धव ठाकरे, जो अपने पिता की मौत के बाद अब शिवसेना के मुखिया हैं और फिलवक्त जिनकी पार्टी भाजपा की जूनियर सहयोगी के तौर पर सक्रिय है, ने चुनावों के ऐन पहले एक किताब के विमोचन के वक्त यहां तक कहा था अगर 'वीर सावरकर प्रधानमंत्री बने होते तो पाकिस्तान वजूद में ही नहीं आता.'उन्होंने अपनी तकरीर में नेहरू को 'वीर' कहने से भी इनकार किया और यह एकांतिक किस्म का बयान दिया कि सावरकर ने जिस तरह 14 साल जेल में बिताए, उस तरह नेहरू ने सिर्फ 14 मिनट ही जेल में बिताए होते, तो उन्होंने नेहरू को वीर कहा होता. क्षेपक के तौर पर बता दें कि **उन्होंने एक तरह से यह साफ किया कि यह हक़ीकत कि नेहरू ने अपनी जिंदगी के नौ साल उपनिवेशवादियों की जेल में बिताए और तमाम तकलीफों के बावजूद अपने उसूलों से समझौता नहीं किया, उनके लिए कोई मायने नहीं रखती। यह अलग बात है कि तमाम स्वयंभू वीरों ने उन दिनों अंग्रेजों के पास माफीनामों की झड़ी लगा दी थी.** सोचने की बात है कि एक ऐसा शख्स, जिसको गुजरे हुए भी 52 साल गुजर गए (मृत्यु 26 फरवरी 1966), जिन्होंने ब्रिटिशों के खिलाफ 1857 के विद्रोह से प्रेरणा लेते हुए तथा अपने मकसद को व्यापक आबादी तक पहुंचाने के मकसद से मराठी में एक ग्रंथ भी लिखा, जिसका शीर्षक था '1857 का भारत का स्वाधीनता संग्राम', जिसमें हिंदू-मुस्लिम एकता के बारे में, जो इस युद्ध के दौरान साफ प्रकट हुई थी, ढेर सारी अच्छी बातें लिखी गयी थीं; जिसे उन्होंने 1857 के शहीदों को समर्पित किया था और जिसमें मंगल पांडे,रानी लक्ष्मीबाई, नानासाहब, मौलवी अहमद शाह, अजीमुल्ला खान, तात्या टोपे, बहादुरशाह जफर, बेगम हजरत महल और कई अन्य वीरों, वीरांगनाओं के नाम लिखे थे, उन्हें क्यों इस अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ रहा है. सावरकर का यह मानना था कि यह विद्रोह फ्रेंच और अमेरिकी इंकलाब के समकक्ष था. इस किताब की 'विस्फोटक अंतर्वस्तु' को देखते हुए सरकार ने इस किताब पर तत्काल पाबंदी लगा दी, इसके बावजूद इस किताब के कई संस्करण निकले तथा वह कई अन्य भाषाओं में अनूदित भी हुई.बाद में उन्हें ऐसी ही रैडिकल गतिविधियों के लिए तथा भारत में चल रही ऐसी ही समानांतर गतिविधियों से रिश्ते बनाए रखने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा गिरफ्तार किया गया और उन्हें दो उम्र कैद की सज़ा सुनायी

गयी तथा अंडमान की सेल्युलर जेल भेजा गया. सावरकर ने इस ग्रंथ का समापन हिंदुस्तान के आखिरी मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर की गज़ल की पंक्तियों के साथ किया था—

*ग़ाज़ियों में बू रहेगी जब तलक ईमान की*
*तख्ते लंदन तक चलेगी तेग हिंदुस्तान की*

अंग्रेज़ों से माफ़ी मांगने वाले सावरकर 'वीर' कैसे हो गए? ऐसे शख्स को सर्वोच्च नागरिक सम्मान भारत रत्न से नवाज़ना क्यों विवादों के केंद्र में है? क्या इसे हम धर्मनिरपेक्ष, वामपंथी इतिहासकारों के कथित पूर्वाग्रह का परिणाम कह सकते हैं या इसकी ठोस वजहें हैं, जिसके चलते सावरकर को सम्मानित करने का मसला न केवल विवादों में घिरा है, बल्कि यह भी कहा जा रहा है कि घृणा एवं असमावेश के फलसफे पर अपने जीवन का बड़ा हिस्सा बिताने वाले सावरकर को ऐसा सम्मान देना आज़ादी के आंदोलन के तमाम अन्य कर्णधारों को अपमानित करना है। अगर हम सावरकर के जीवन पटल को वस्तुनिष्ठ तरीके से देखने की कोशिश करें तो एक दिलचस्प बात समझ में आती है. सावरकर के 83 साला जीवन को हम दो चरणों में साफ देख सकते हैं. पहला चरण, यह वह दौर था जब वह हिंदू एवं मुस्लिम एकता के हिमायती थे और जब उन्हें ब्रिटिश सरकार के खिलाफ जारी अपनी जुझारू सक्रियताओं के चलते दो उम्र कैद की सज़ा सुनायी गयी थी और उन्हें अंडमान जेल भेजा गया था, जिसे 'काला पानी की सज़ा' कहा जाता था.अंडमान जेल की सज़ा काफी सख्त मानी जाती थी. वहां जेल काटकर बाहर निकले राजनीतिक बंदियों ने वहां के उत्पीड़न एवं दमनकारी हालात के बारे में लिखा है.'मैं शेरों को पालतू बना लेता हूं.'—'काला पानी' की सजा पाए पोर्ट ब्लेयर की सेल्युलर जेल के स्वतंत्रता सेनानियों को वहां का बदनाम जेलर यही कहता था. सेल्युलर जेल बनने के पहले बागी वहाबियों को भी अंडमान द्वीप समूह के वाइपर टापू पर निर्वासित किया जाता था तथा फांसी चढ़ाई जाती थी.उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत से निर्वासित शेर अली ने वायसराय मेयो की हत्या उनके अंडमान दौरे के दौरान की थी. भारत में किसी वायसराय की हत्या की यह एकमात्र घटना थी. शेर अली को वाइपर द्वीप पर ही फांसी दे दी गई. काला पानी की सजा पाए राजनीतिक बंदियों के उत्पीड़न की कथाएं दर्दनाक हैं। कई कैदियों ने तंग आकर आत्महत्या की, कुछ विक्षिप्त हो गए, कुछ जेल की दमनकारी व्यवस्था के खिलाफ उपवास करते हुए या उपवास के दौरान जबरदस्ती खिलाने की कोशिश में मारे गए. और दूसरा चरण तब शुरू होता है जब वह जेल के अंदर से ब्रिटिश सरकार को दया याचिकाएं भेजना शुरू करते हैं और हिंदू एकता के हिमायती हो जाते हैं, यहां तक कि हिंदू राष्ट्र के सिद्धांत के प्रस्तुतकर्ता बनते हैं. ऐसा प्रतीत होता है कि **जेल के सख्त जीवन ने, जिसे अन्य कैदियों द्वारा बिना किसी समझौते के बर्दाश्त किया जा रहा था, उन्हें तोड़ दिया और जल्द रिहाई के लिए उन्होंने ब्रिटिश सरकार के पास याचिकाएं भेजना शुरू किया. काफी समय बाद ब्रिटिश सरकार ने उनकी इन याचिकाओं पर गौर किया और उन्हें घर भेजा गया, लेकिन उन पर प्रतिबंध कायम रहे तथा उन्हें निर्देश दिया गया कि वे राजनीतिक गतिविधियों से न जुड़ें.** उन्हें अंततः तभी रिहा किया गया जब भारत के सूबों में चुनाव हुए और तत्कालीन मुंबई प्रांत में कांग्रेस के नेतृत्व वाली सरकार बनी.

## अंडमान सेक्यूलर जेल और सावरकर के माफीनामे

अंडमान पहुंचते ही छह माह तक सावरकर को अकेले हिरासत में रखा गया, जिस दौरान ही उनका मनोबल टूट गया था. प्रोफेसर शम्सुल इस्लाम अपनी किताब 'सावरकरः मिथ्स एंड फैक्ट्स' में बताते हैं कि 'सावरकर का सेल सबसे ऊंची मंज़िल पर था, जहां से फांसी का तख्ता साफ नज़र आता था. हर माह वहां किसी न किसी बंदी को फांसी होती थी. मुमकिन है कि फांसी पर लटके जाने के इस डर ने उन्हें अंदर से तोड़ दिया हो.' महान स्वतंत्रता सेनानी त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती, जिन्होंने अंडमान के काला पानी में तीस साल बिताए, अपनी आत्मकथा 'थर्टी ईयर्स इन प्रिजन' में लिखते हैं—'सेल्युलर जेल के राजनीतिक बंदियों को दो भाग में बांटा गया था; मॉडरेट और अतिवादी. सावरकर बंधु, बरीन बाबू (बरीन्द्रा घोष) और कुछ अन्य जो पहले आए थे, जिन्हें काफी तकलीफें उठानी पड़ी थीं, उन्हें कुछ छूट मिली थी. वे जेलर के प्रिय हुए थे. इसलिए अपने को मिली छूट को वे छोड़ना नहीं चाहते थे और इसलिए उन्होंने प्रस्तावित आंदोलन में शामिल होने से इनकार किया। सावरकर बंधु हमें अकेले में प्रोत्साहित करते रहते थे, मगर जब उन्हें कहा जाता कि वह भी जुड़ जाएं, तो वह हमेशा इससे दूर रहे.'गौरतलब है कि त्रैलोक्यनाथ तथा अन्य इंकलाबियों को मालूम नहीं था, मगर अंडमान में पहुंचने के दो माह के अंदर ही (अगस्त 30, 2011) सावरकर ने अपनी पहली दया याचिका भेजी थी. यह भी नहीं था कि सावरकर के साथ जेल में बंद तमाम अन्य कैदियों ने माफीनामे लिख भेजे थे.दरअसल उन्होंने बेहद खुशी-खुशी इस सज़ा को स्वीकारा था और अपने उसूलों के लिए जेल के अंदर एवं बाहर लड़ते ही रहे, जिनमें बंगाल एवं पंजाब के तमाम महान क्रांतिकारी भी शामिल थे, जैसे उल्लासकर दत्ता, त्रैलोक्यनाथ चतुर्वेदी आदि। ध्यान रहे कि 1911 में भेजी गयी सावरकर की दया याचिका खारिज कर दी गयी थी, तो 1913 में उन्होंने दूसरी याचिका भेजी, जिसमें वह खुल्लमखुल्ला ब्रिटिश सरकार का गुणगान करते दिखते हैं. याचिका का अंत इस प्रकार होता है—'अंत में मैं महामहिम को यह याद दिलाना चाहता हूं कि वह मेरी दया याचिका पर गौर करें, जिसे मैंने 1911 में भेजा था और उसे मंजूर कर भारत सरकार को भेजें. भारत की सियासत का ताजा सूरतेहाल और हुकूमत की समन्वय की नीति ने फिर एक बार संवैधानिक रास्ते को खोल दिया है.अब कोई भी शख्स जो हिंदुस्तान और इंसानियत का दिल से भला चाहता हो, वह उन कंटीले रास्तों पर आंख मूंदकर नहीं चलेगा जैसा कि 1906-1907 के उत्तेजित करने वाले और नाउम्मीदी से भरे हालात में हमने किया तथा अमन एवं तरक्की के रास्ते को छोड़ दिया था.इसलिए हुकूमत

अगर अपने बहुविध एहसान एवं दया की भावना के तहत मुझे रिहा करेगी, तो मैं इस संवैधानिक तरक्की तथा अंग्रेज सरकार से वफादारी का सबसे बड़ा हिमायती बनूंगा, जो आज तरक्की की पूर्व शर्त है। इसके अलावा संवैधानिक रास्ते पर मेरा लौटना भारत तथा विदेशों के उन तमाम गुमराह नौजवानों को वापस लाने में मदद करेगा, जो अपने मार्गदर्शक के तौर पर मुझे देखते हैं.हुकूमत जैसा चाहे, उसी तरह से मैं हुकूमत की सेवा करने के लिए तैयार हूं, क्योंकि मेरा यह रूपांतरण विवेकशील है और मैं उम्मीद करता हूं कि भविष्य का मेरा आचरण भी उसके अनुरूप होगा. मुझे जेल में रख कर सरकार को कुछ नहीं मिलेगा जबकि मुझे रिहा किया जाएगा तो सरकार का लाभ होगा. सिर्फ बलशाली ही दयावान हो सकते हैं और आखिर पश्चात्ताप करने वाला बेटा माई-बाप सरकार के दरवाजे नहीं जाएगा तो कहां जाएगा.'

*विनायक दामोदर सावरकर*

*(R.C. Majumdar, Penal Settlements in the Andamans, Publications Division, 1975)*

## द्विराष्ट्र सिद्धांत के प्रथम प्रस्तावक सावरकर

सावरकर की दया याचिकाओं को लेकर काफी बहस चली है. पहले तो उनके मुरीद इस बात को स्वीकारने को ही तैयार नहीं थे कि सावरकर ने इस किस्म का शर्मनाक व्यवहार किया था. उनके सामने जब प्रमाण रखे गए तो उन्होंने एक दूसरी दलील दी कि उनकी यह रणनीतिक चाल थी और वह दरअसल जेल से बाहर आकर आंदोलन को मजबूती देना चाह रहे थे. सीमित जानकारी के चलते कुछ लिबरल लोग भी इस मामले में गलतफहमी का शिकार हो जाते रहे हैं. दया याचिकाएं एक 'रणनीतिक चाल' थी, इस झांसे मे आ जाते रहे हैं.

प्रश्न यह है कि 1924 में ब्रिटिश सरकार की शर्तों के साथ जेल से रिहा होने वाले, अपने आप को राजनीतिक गतिविधियों से दूर रखने के ब्रिटिश सरकार के साथ वादे को निभाने वाले सावरकर, जिन्हें रत्नागिरी तक ही सीमित रहने को कहा गया था, वाकई आज़ादी के आंदोलन को मजबूत कर रहे थे या उसमें दरार डालने के बीज डाल रहे थे? **अगर हम ब्रिटिश जेल से रिहा होने के बाद सावरकर की गतिविधियों को देखें तो उनका काम आज़ादी के आंदोलन को मजबूत बनाना नहीं दिखता बल्कि वह अपने विचारों, अपनी सरगर्मियों से उसे कमजोर करता ही दिखता है.** दिलचस्प है कि जहां ब्रिटिश सरकार ने उनकी राजनीतिक गतिविधियों पर पाबंदी लगायी थी, वहीं जब 1925 में कांग्रेस से जुड़े एक नेता हेडगेवार, जो गांधी की अगुआई में कांग्रेस द्वारा अपनायी गयी सर्वसमावेशी नीति के खिलाफ थे, से उनकी मुलाकात पर उन्होंने आक्षेप नहीं उठाया. वह इस बात के प्रति स्पष्ट थे कि 'हिंदुत्व' किताब से प्रभावित हेडगेवार सावरकर की सलाह से जो भी करेंगे, वह भारतीय जनता में नयी दरार ही डालेगा. याद रहे, 1925 में लिखी अपनी किताब 'हिंदुत्व' के जरिए सावरकर ने यह स्पष्ट किया था कि 1910 के कारावास के पहले हिंदू मुस्लिम एकता की बात करने वाले सावरकर अब इतिहास हो गए हैं और अब वह हिंदू राष्ट्र निर्माण के लिए प्रयत्नशील रहेंगे. इसी समझदारी का प्रतिबिंबन था द्विराष्ट्र के सिद्धांत का उनका प्रतिपादन, जो मुहम्मद अली जिन्ना के दो साल पहले सामने आया था. याद रहे, जिन्ना ने 1939 में द्विराष्ट्र सिद्धांत पेश किया, सावरकर द्वारा इसे पेश किए जाने के दो साल बाद. वर्ष 1937 में अहमदाबाद में आयोजित हिंदू महासभा के राष्ट्रीय अधिवेशन में अध्यक्ष पद से बोलते हुए सावरकर ने यह बात कही थी कि भारत में दो विरोधी राष्ट्र एक साथ बसते हैं। कई बचकाने राजनेता यह मानने की गंभीर गलती करते है कि भारत पहले से ही एक सद्भावपूर्ण मुल्क बन चुका है। ऐसी सदिच्छा रखने वाले लेकिन हमारे यह अविचारी मित्र अपने ख्वाबों को ही हक़ीकत मान लेते हैं.इसके चलते ही वह सांप्रदायिक विवादों को लेकर बेचैन रहते हैं और इसके लिए सांप्रदायिक संगठनों को जिम्मेदार मानते हैं. लेकिन ठोस वस्तुस्थिति यह है कि कथित सांप्रदायिक प्रश्न हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सदियों से चली आ रही सांस्कृतिक, धार्मिक और राष्ट्रीय शत्रुता की ही विरासत है। भारत को हम एक एकजुट (Unitarian) और समरूप राष्ट्र के तौर पर समझ नहीं सकते, बल्कि इसके विपरीत उसमें मुख्यतः दो राष्ट्र बसे हैं—हिंदू और मुसलमान।

*(VD Savarkar, Samagra Savarkar Wangmaya, Hindu Rasthra Darshan (Collected works of V.D.Savarkar) Vol VI, Maharashtra Prantik Hindusabha, Poona, 1963, p 296)*

## गृहयुद्ध की धमकी

द्विराष्ट्र सिद्धांत के इस मूल प्रस्तुतकर्ता ने वर्ष 1943 के अगस्त में एक मीडिया सम्मेलन में यह बात कही थी कि 'विगत तीस सालों से हम भारत की भौगोलिक एकता की इस विचारधारा से परिचित हुए हैं और कांग्रेस इस एकता की मजबूत हिमायती रही है, लेकिन अल्पसंख्यक मुसलमान, जो कम्युनल अवॉर्ड के बाद एक के बाद एक छूटें मांग रहे हैं, अब इस दावे के साथ सामने आए हैं कि वह एक अलग राष्ट्र हैं. मुझे जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धांत से कोई परेशानी नहीं है. हम हिंदू अपने आप में एक राष्ट्र हैं और यह एक ऐतिहासिक हक़ीकत है कि हिंदू और मुसलमान दो अलग अलग राष्ट्र हैं.'

भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने के लिए तथा मुसलमानों को दोयम दर्जे पर रखने के लिए वह गृहयुद्ध करने को भी तैयार थे, जो बात एक अमेरिकी पत्रकार के साक्षात्कार में साफ दिखती है.यह वर्ष 1944 की बात है, जब एक चर्चित अमेरिकी युद्ध पत्रकार टॉम ट्रेनर ने मुंबई में सावरकर का इंटरव्यू लिया था. गौरतलब है कि यह साक्षात्कार तब लिया गया जब वह शायद एकमात्र ऐसे हिंदू राजनेता थे जो ऐतिहासिक भारत छोड़ो आंदोलन के बाद जेल में नहीं थे. अधिकतर राजनेताओं को या तो जेल भेजा गया था या बाकी लोग भूमिगत होकर संघर्ष का संचालन कर रहे थे. सावरकर का उपरोक्त साक्षात्कार असमय गुजर गए एक पत्रकार की किताब 'वन डैम थिंग ऑफ्टर अनदर' में प्रकाशित भी हुआ है. हिंदुस्तान को आज़ादी मिलने के आसार बन रहे थे और पत्रकार सावरकर से इसी के बारे में बात कर रहा था.उसने पूछा, 'आप मुसलमानों के साथ किस

तरह पेश आएंगे?' सावरकर का जवाब था, 'अल्पसंख्यक की तरह। जैसे आप के मुल्क में नीग्रो हैं.' (अश्वेतों के लिए यही शब्द उन दिनों प्रयुक्त होता था.)पत्रकार ने आगे पूछा, 'अगर मुसलमान अलग होने में कामयाब हो जाते हैं और अपना मुल्क बना लेते हैं तो?' अपनी उंगलियों को डरावने अंदाज में प्रदर्शित करते हुए सावरकर ने जवाब दिया, 'जैसा कि आपके देश में हो रहा है, यहां गृहयुद्ध होगा.'

## सावरकर ने मुस्लिम लीग के साथ मिलकर बनायी सरकारें

क्या संघ 'भारत छोड़ो आंदोलन' के ख़िलाफ़ था? वैसे चालीस के दशक के पूर्वार्द्ध में जब उपनिवेशवाद के खिलाफ खड़ी कांग्रेस पार्टी और समाज के अन्य रैडिकल धड़े ब्रिटिशों के खिलाफ 'करो या मरो' का संघर्ष चला रहे थे, तब सावरकर की अपनी स्थिति क्या थी?यह बात अब इतिहास हो चुकी है कि किस तरह उस दौर में हिंदुत्व की हिमायती ताकतों ने समझौतापरस्ती का रुख अख्तियार किया था. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने 'भारत छोड़ो आंदोलन' से अपने आपको दूर रखा था और जिन दिनों भारत की व्यापक जनता ब्रिटिशों की मुखालिफत में खड़ी थी, उसने अपने आप को अपने विभाजनकारी एजेंडा तक सीमित रखा था, मगर सावरकर उनसे भी एक कदम आगे बढ़ गए थे. उन दिनों भारत के दौरे पर निकले थे और घूम-घूमकर सभाओं में, बैठकों में हिंदू युवकों का आह्वान कर रहे थे कि वे सेना में भर्ती हों. 'हिंदुओं का सैन्यीकरण करो और राष्ट्र का हिंदूकरण करो' का उनका केंद्रीय नारा एक तरह से बढ़ते जनान्दोलनों से निपट रही ब्रिटिश सरकार की दमन की कोशिशों के लिए मददगार साबित हो रहा था. **एक तरफ जहां कांग्रेस पार्टी ने अलग अलग प्रांतों में संचालित उसकी सरकारों को यह निर्देश दिया कि वह अपनी सरकारों से इस्तीफा दें, वहीं सावरकर की अगुआई वाली हिंदू महासभा उसी अंतराल में सिंध, उत्तर पश्चिमी प्रांत और बंगाल में मुस्लिम लीग के साथ सत्ता में साझेदारी कर रही थी।** इसके बावजूद कि हिंदू महासभा मुस्लिम लीग के साथ सत्ता में साझेदारी कर रही थी और हिंदू युवकों को ब्रिटिश सेना में भर्ती कराने के अभियान में सावरकर मुब्तिला रहे थे, खुद ब्रिटिश उन्हें 'चुका हुआ कारतूस' (spent force) समझते थे.एजी नूरानी, संवैधानिक विशेषज्ञ और राजनीतिक विश्लेषक, अपनी किताब 'सावरकर एंड हिंदुत्व' में इंडिया ऑफिस के जॉन पर्सिवल गिब्सन, जो उन दिनों राजनीतिक विभाग के मुखिया थे, की एक बैठक के मिनट के अंश साझा करते हैं. उनके मुताबिक, उन्होंने 1 अगस्त 1944 को ब्रिटिश सरकार को लिखा था कि 'वह इस बात को जरूरी नहीं समझते कि सावरकर द्वारा सेक्रेटरी ऑफ स्टेट, इंडिया को भेजे गए तार की स्वीकृति दी जाए. मालूम हो कि लिओपाल्ड एस अमेरी, जो सेक्रेटरी ऑफ स्टेट थे, को 26 जुलाई 1944 को सावरकर ने एक तार भेजा था जिसमें यह दावा किया गया था कि 'महासभा हिंदुओं का अखिल भारतीय प्रतिनिधित्व करने वाली एकमात्र संस्था है.'नूरानी इस बात को भी नोट करते हैं कि ऐसे राजनेता जिनका आभामंडल खत्म होता जाता है, उसी तर्ज पर सावरकर चल रहे थे. ख़बरों में बने रहने के लिए सावरकर नियमित प्रेस विज्ञप्ति जारी करते रहते थे और इस बात का भी ध्यान रख रहे थे कि ऐसे बयान अधिकाधिक एकांतिक किस्म के हों.भारत की आज़ादी को लेकर सावरकर की चिंताएं विचित्र थीं। उन्हें इस बात से भी गुरेज नहीं हुआ, जब त्रावणकोर के दीवान अय्यर ने त्रावणकोर को आज़ाद घोषित करने का दुस्साहस किया था, तब उन्होंने त्रावणकोर के दीवान अय्यर की जल्द से जल्द तारीफ करने में वक्त नहीं गंवाया था. फ्रंटलाइन में प्रकाशित एजी नूरानी का लेख (जिसमें वह सीपी रामस्वामी अय्यर के दो चरित्रों की समीक्षा करते हैं) इस तथ्य को उजागर करता है। सर सीपी रामस्वामी अय्यर, जो त्रावणकोर के दीवान थे, उन्होंने अपने राज्य को भारत से स्वतंत्र घोषित किया था. यह दुस्साहस यहीं समाप्त नहीं हुआ था. उन्होंने बहादुरी के साथ और बेहद जल्दबाजी में त्रावणकोर राज्य से एक राजदूत भी जिन्ना के पास पाकिस्तान भेजा था और इस तरह अपने आप को आज़ाद भारत और समग्र भारत के दुश्मन के तौर पर पेश किया था. इस देशद्रोह के लिए आखिर भारत से किसने उनकी हौसला अफजाई की? वे सावरकर ही थे।

यह एक रोचक तथ्य है कि जैसे ही हमने 21वीं सदी में प्रवेश किया है, इतिहासकार राजनीति के केंद्र में आ गए हैं. हम इतिहासकार अतीत के एकमात्र आपूर्तिकर्ता हैं. अतीत के बारे में संशोधन करने का एकमात्र रास्ता इतिहासकारों के ज़रिये आज नहीं तो कल गुजरता ही है. आज ज्ञान की जगह को पौराणिक कथाएं भर रही हैं. 21वीं सदी के उषाकाल के दौरान मशहूर विद्वान और इतिहासकार एरिक होब्सबॉम ने न्यूयार्क की कोलंबिया यूनिवर्सिटी के अपने अभिभाषण में 'इतिहास के नष्ट' होने की प्रक्रिया से लेकर उसे 'संशोधित करने' या किस प्रकार 'ज्ञान का स्थान मिथक ले रहे हैं' की प्रक्रिया के बारे में बताया था.तब से अब तक दुनिया में गंगा, राइन और यांगत्सी में काफी पानी बह चुका है और आज हम 21 वीं सदी के तीसरे दशक की दहलीज़ पर खड़े होकर अनुभव करते हैं कि कैसे धरती के विभिन्न हिस्सों में शाब्दिक और रूपक दोनों रूपों में यह प्रक्रिया तेज हुई है. उपरोल्लिखित इस पूरे घटनाक्रम को देखते हुए–जहां सावरकर तरह तरह के असमावेशी विचारों की तथा कदमों की हिमायत करते दिखते हैं, कोई भी तटस्थ पर्यवेक्षक उनका महिमामंडन नहीं कर सकता, बल्कि उन्हें स्वतंत्रता आंदोलन के उन महान नेताओं के समकक्ष पद पर आसीन करने के प्रति आगाह करेगा, जो न कभी अपने कर्तव्य पथ से विचलित हुए और न ही अपने कृत्यों के लिए कभी क्षमायाचना की.यह स्पष्ट है कि भाजपा सावरकर प्रसंग के बारे में बिल्कुल उल्टा सोचती है, जिसका दावा है कि वह हमें एक नए भारत में ले जा रही है. और यह कोई संयोग नहीं है कि महात्मा गांधी के हत्यारे नाथूराम गोडसे, जिसे आज़ाद भारत के पहले आतंकवादी के रूप में जाना जाता है, का इन दिनों बिना किसी लुकाछिपी के खुलेआम महिमामंडन किया जा रहा है.नए भारत के नए आइकॉन इसी तरह हमारे सामने पेश किए जा रहे हैं. *(क्रमश अगले अंक में)*

# वंदेमातरम् राष्ट्रगीत है, राष्ट्रीयता की कसौटी नहीं

❑ **प्रभाष जोशी**

**जि**न राज्यों में भारतीय जनता पार्टी का राज है और जहां वह दूसरी पार्टियों के साथ राज कर रही है, वहां की सरकारों ने वंदेमातरम् गाने को अनिवार्य कर दिया था. लेकिन जहां कांग्रेस और दूसरी पार्टियों का राज है, वहां इसको गाने न गाने की छूट थी.

जिन भाजपाई सरकारों ने इसे अनिवार्य किया, वे भी यह दावा नहीं कर सकतीं कि जो मुसलमान, ईसाई और सिख इसे गाना नहीं चाहते थे, उनसे भी वंदेमातरम् गवा लिया गया है. आदमी अगर ऐसा ही मशीनी होता और गाना रिकॉर्ड बजवाने जैसा मैकेनिकल काम होता तो न तो महान गीत होते, न महान संगीत.

अपनी मां, मातृभूमि और देश से आप सहज और स्वैच्छिक प्रेम करते हैं, कोई करवा नहीं सकता. सहजता और स्वैच्छिकता संस्कृति की महान उपलब्धियों की कुंजी है. जो राष्ट्र अपने नागरिकों की सहजता और स्वैच्छिकता का आदर करता है और उन पर कोई चीज़ थोपकर उन्हें मजबूर नहीं करता, सभ्यता और संस्कृति में वह उतना ही विकसित होता है.

कोई प्रेरित व्यक्ति जितने बड़े काम कर सकता है, मजबूर आदमी नहीं कर सकता है. अगर इस सत्य को आप समझते हैं तो लोगों को प्रेरित करेंगे, जो वे मन से और सहजता से कर सकते हैं, उसे करने की छूट देंगे और इस स्वतंत्र और स्वैच्छिक वातावरण में जो प्राप्त होगा, उसका गौरव गान करेंगे.

वंदेमातरम् के राष्ट्रगीत होने की जैसे भी और जैसी भी मनाई गई शताब्दी पर अगर देशप्रेमियों, शहीदों और स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के प्रति कृतज्ञता और समर्पण को ऊंचा उठा देने वाली भावना सर्वव्यापी नहीं हुई तो दोष उन्हीं का है, जो इसको गाना अनिवार्य करना चाहते थे.

यह पहली बार नहीं हुआ है कि मुसलमानों के एक तबके ने वंदेमातरम् के गाने को इस्लाम विरोधी कहा हो. वैसे ही यह भी पहली बार नहीं हुआ है कि संघ परिवारियों ने इसके गाने को मुसलमानों के लिए अनिवार्य करने का हल्ला मचाया हो.

मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बीच यह झगड़ा आज़ादी के बहुत पहले से चला आ रहा है. आज़ादी के आंदोलन की मुख्यधारा तो कांग्रेस की ही थी और उसी ने वंदेमातरम् को बाक़ायदा अपनाया भी. लेकिन उसी ने इसे गाते हुए भी इसको गाना स्वैच्छिक रखा. कांग्रेस का सन 1937 के अधिवेशन का प्रस्ताव इसका प्रमाण है. उसी ने इसे स्वतंत्र, लोकतांत्रिक गणराज्य भारत का राष्ट्रगीत भी बनाया.

अल्पसंख्यकों खासकर मुसलमानों के लिए वंदेमातरम् गाना अनिवार्य करने की मांग संघ परिवारियों की ही रही है. ये वही लोग हैं, जिनने उस स्वतंत्रता संग्राम को ही स्वैच्छिक माना है, जिसमें से वंदेमातरम् निकला है.

अगर भारत माता की स्वतंत्रता के लिए कुरबान हो जाना ही देशभक्ति की कसौटी है तो संघ परिवारी तो उस पर चढ़े भी नहीं, खरे उतरने की तो बात ही नहीं है.

लालकृष्ण आडवाणी ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता कि राष्ट्रभक्ति का कोई प्रतीक स्वैच्छिक हो. तो फिर सवाल है कि आज़ादी की लड़ाई के निर्णायक 'भारत छोड़ो आंदोलन' के दौरान वे खुद क्या कर रहे थे?

उनने खुद ही कहा है कि मैं संघ में लगभग उन्हीं दिनों गया, जब भारत छोड़ो आंदोलन छिड़ा था क्योंकि मैं मानता था कि कांग्रेस के तौर-तरीक़ों से तो भारत आज़ाद नहीं होगा. और भी बहुत कुछ करने की ज़रूरत थी.

संघ का रवैया यह था कि जब तक हम पहले देश के लिए अपनी जान कुरबान कर देने वाले लोगों का मज़बूत संगठन नहीं बना लेते, भारत स्वतंत्र नहीं हो सकता.

लालकृष्ण आडवाणी भारत छोड़ो आंदोलन को छोड़कर कराची में देश पर कुरबान हो सकने वाले लोगों का संगठनों; बनाते रहे. पांच साल बाद देश आज़ाद हो गया. इस आज़ादी में उनके संगठन संघ के कितने स्वयंसेवकों ने जान की कुरबानी दी, ज़रा बताएं.

एक और बड़े देशभक्त स्वयंसेवक अटल बिहारी वाजपेयी हैं. वे भी भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान बच्चे नहीं, संघ का कार्य करते स्वयंसेवक ही थे. एक बार बटेश्वर में आज़ादी के लिए लड़ते लोगों की संगत में पड़ गए. ऊधम हुआ. पुलिस ने पकड़ा तो उत्पात करने वाले सेनानियों के नाम बताकर छूट गए.

आज़ादी आने तक उनने भी देश पर कुरबान होने वाले लोगों का संगठन बनाया, जिन्हें कुरबान होने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी क्योंकि वे भी आज़ादी के आंदोलन को राष्ट्रभक्ति के लिए स्वैच्छिक ही समझते थे.

अब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अपने को देशभक्तों का महान संगठन कहे और देश पर जान न्योछावर करने वालों की सूची बनाए तो यह बड़े मज़ाक का विषय है. सन् 1925 में संघ की स्थापना करने वाले डॉक्टर केशव बलिराम हेडगेवार को बड़ा क्रांतिकारी और देशभक्त बताया जाता है. वे डॉक्टरी की पढ़ाई करने 1910 में नागपुर से कोलकाता गए जो क्रांतिकारियों का गढ़ था. हेडगेवार वहां छह साल रहे. संघ वालों का दावा है कि कोलकाता पहुंचते ही उन्हें अनुशीलन समिति की सबसे विश्वसनीय मंडली में ले लिया गया और मध्यप्रांत के क्रांतिकारियों को हथियार और गोला-बारूद पहुंचाने की जिम्मेदारी उन्हीं की थी.

लेकिन न तो कोलकाता के क्रांतिकारियों की गतिविधियों के साहित्य में उनका नाम आता है, न तब के पुलिस रिकॉर्ड में. (इतिहासकारों का छोड़ें क्योंकि यहां इतिहासकारों का उल्लेख करने पर कुछ को उनकी निष्पक्षता पर ही सवाल खड़ा करने का अवसर मिल सकता है)

खैर, हेडगेवार ने वहां कोई महत्व का

काम नहीं किया, न ही उन्हें वहां कोई अहमियत मिली. वे न तो कोई क्रांतिकारी काम करते देखे गए और न ही पुलिस ने उन्हें पकड़ा. 1916 में वे वापस नागपुर आ गए.

लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद वे कांग्रेस और हिंदू महासभा दोनों में काम करते रहे. गांधीजी के अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा आंदोलनों में भाग लेकर खिलाफ़त आंदोलन के वे आलोचक हो गए. वे पकड़े भी गए और सन् 1922 में जेल से छूटे.

नागपुर में सन् 1923 के दंगों में उनने डॉक्टर मुंजे के साथ सक्रिय सहयोग किया. अगले साल सावरकर का 'हिंदुत्व' निकला, जिसकी एक पांडुलिपि उनके पास भी थी.

सावरकर के हिंदू राष्ट्र के सपने को साकार करने के लिए ही हेडगेवार ने सन् 1925 में दशहरे के दिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की. तब से वे निजी हैसियत में तो आज़ादी के आंदोलन और राजनीति में रहे लेकिन संघ को इन सबसे अलग रखा.

सारा देश जब नमक सत्याग्रह और सिविल नाफ़रमानी आंदोलन में कूद पड़ा तो हेडगेवार भी उसमें आए लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कमान परांजपे को सौंप गए. वे स्वयंसेवकों को उनकी निजी हैसियत में तो आज़ादी के आंदोलन में भाग लेने देते थे लेकिन संघ को उनने न सशस्त्र क्रांतिकारी गतिविधियों में लगाया न अहिंसक असहयोग आंदोलनों में लगने दिया.

संघ ऐसे समर्पित लोगों के चरित्र निर्माण का कार्य कर रहा था, जो देश के लिए कुरबान हो जाएंगे. सावरकर ने तब चिढ़कर बयान दिया था कि संघ के स्वयंसेवक के समाधि-लेख में लिखा होगा—'वह जनमा, संघ में गया और बिना कुछ किए धरे मर गया।'

हेडगेवार तो फिर भी क्रांतिकारियों और अहिंसक असहयोग आंदोलनकारियों में रहे, दूसरे सरसंघचालक माधव सदाशिव गोलवलकर तो ऐसे हिंदू राष्ट्रनिष्ठ थे कि राष्ट्रीय आंदोलन, क्रांतिकारी गतिविधियों और ब्रिटिश विरोध से उनने संघ और स्वयंसेवकों को बिल्कुल अलग कर लिया.

वाल्टर एंडरसन और श्रीधर दामले ने संघ पर जो पुस्तक 'द ब्रदरहुड इन सैफरन' लिखी है, उसमें कहा है, 'गोलवलकर मानते थे कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर पाबंदी लगाने का कोई बहाना अंग्रेज़ों को न दिया जाए.'

अंग्रेज़ों ने जब ग़ैरसरकारी संगठनों में वर्दी पहनने और सैनिक कवायद पर पाबंदी लगायी तो संघ ने इसे तत्काल स्वीकार किया. 29 अप्रैल 1943 को गोलवलकर ने संघ के वरिष्ठ लोगों को एक दस्तीपत्र भेजा. इसमें संघ की सैनिक शाखा बंद करने का आदेश था.

दस्तीपत्र की भाषा से पता चलता है कि संघ पर पाबंदी की उन्हें कितनी चिंता थी- 'हमने सैनिक कवायद और वर्दी पहनने पर पाबंदी जैसे सरकारी आदेश मानकर ऐसी सब गतिविधियां छोड़ दी है, ताकि हमारा काम क़ानून के दायरे में रहे, जैसा कि क़ानून को मानने वाले हर संगठन को करना चाहिए. ऐसा हमने इस उम्मीद में किया कि हालात सुधर जाएंगे और हम फिर ये प्रशिक्षण देने लगेंगे. लेकिन अब हम तय कर रहे हैं कि वक्त के बदलने का इंतज़ार किए बिना ये गतिविधियां और ये विभाग समाप्त ही कर दें.'

यह वह दौर था जब नेताजी सुभाषचंद्र बोस जैसे क्रांतिकारी अपने तरीके से संघर्ष कर रहे थे। पारंपरिक अर्थों में गोलवलकर क्रांतिकारी नहीं थे. अंग्रेज़ों ने इसे ठीक से समझ लिया था.

सन् 1943 में संघ की गतिविधियों पर तैयार की गई एक सरकारी रपट में गृह विभाग ने निष्कर्ष निकाला था कि संघ से विधि और व्यवस्था को कोई आसन्न संकट नहीं है. 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में हुई हिंसा पर टिप्पणी करते हुए मुंबई के गृह विभाग ने कहा था, 'संघ ने बड़ी सावधानी से अपने को क़ानूनी दायरे में रखा है. खासकर अगस्त 1942 में जो हिंसक उपद्रव हुए हैं, उनमें संघ ने बिल्कुल भाग नहीं लिया है.

हेडगेवार सन् 1925 से 1940 तक सरसंघचालक रहे और उनके बाद आज़ादी मिलने तक गोलवलकर रहे. इन बाइस वर्षों में आज़ादी के आंदोलन में संघ ने कोई योगदान या सहयोग नहीं किया.

संघ परिवारियों के लिए संघ का कार्य ही राष्ट्रसेवा और राष्ट्रभक्ति का सबसे बड़ा काम था. संघ का कार्य क्या है? हिंदू राष्ट्र के लिए मर मिटने वाले स्वयंसेवकों का संगठन बनाना. इन स्वयंसेवकों का चरित्र निर्माण करना. उनमें राष्ट्रभक्ति को ही जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा और शक्ति मानने की परम आस्था बैठाना.

1947 में जब देश आज़ाद हुआ तो देश में कोई सात हज़ार शाखाओं में छह से सात लाख स्वयंसेवक भाग ले रहे थे. आप पूछ सकते हैं कि इन एकनिष्ठ देशभक्त स्वयंसेवकों ने आज़ादी के आंदोलन में क्या किया?

अगर ये सशस्त्र क्रांति में विश्वास करते थे तो अंग्रेज़ों के खिलाफ़ इनने कितने सशस्त्र उपद्रव किए, कितने अंग्रेज़ों को मारा और उनके कितने संस्थानों को नष्ट किया. कितने स्वयंसेवक अंग्रेज़ों की गोलियों से मरे और कितने वंदेमातरम् कहकर फांसी पर झूल गए? हिंदुत्ववादियों के हाथ से एक निहत्था अहिंसक गांधी ही तो मारा गया.

संघ और इन स्वयंसेवकों के लिए आज़ादी के आंदोलन से ज्यादा महत्वपूर्ण स्वतंत्र हिंदू राष्ट्र के लिए संगठन बनाना और स्वयंसेवक तैयार करना था. संगठन को अंग्रेज़ों की पाबंदी से बचाना था. अंग्रेज़ों से आज़ाद कराया गया भारत इनके लिए स्वतंत्र भारत राष्ट्र नहीं था.

इनका हिंदू राष्ट्र तो कोई पांच हज़ार साल पहले से ही बना हुआ है. उसे पहले मुसलमानों और फिर अंग्रेज़ों से मुक्त कराना है. मुसलमान हिंदू राष्ट्र के दुश्मन नंबर एक और अंग्रेज़ नंबर दो थे. सिर्फ अंग्रेज़ों को बाहर करने से इनका हिंदू राष्ट्र आज़ाद नहीं होता.

मुसलमानों को भी या तो बाहर करना होगा या उन्हें हिंदू संस्कृति को मानना होगा. इसलिए अब उनका नारा है- वंदे मातरम् गाना होगा, नहीं तो यहां से जाना होगा.

सवाल यह है कि जब आज़ादी का आंदोलन, संघ परिवारियों के लिए स्वैच्छिक था तो स्वतंत्र धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक भारत में वंदेमातरम् गाना स्वैच्छिक क्यों नहीं हो सकता?

भारत ने हिंदू राष्ट्र को स्वीकार नहीं किया है. यह भारत संघियों का हिंदू राष्ट्र नहीं है. वंदेमातरम् राष्ट्रगीत है, राष्ट्रीयता की कसौटी नहीं.

*(यह आलेख 10 मार्च 2008 को जनसत्ता में प्रकाशित हुआ था।)* ❑

# धुंध में डूबा उत्तर भारत एवं बढ़ रहा प्रदूषण

❑ मलिक असगर हाशमी

पराली जलाने को लेकर 10 से 15 दिन ही हलचल होती है, उसके बाद सब कुछ सामान्य हो जाता है। साथ ही, इसे थामने के प्रयास भी थम जाते हैं।

हरियाणा सरकार ने पराली नहीं जलाने वाले किसानों को प्रोत्साहित करने के लिए मशीन की खरीद पर पचास प्रतिशत सब्सिडी और पराली जलाने वाले की गुप्त सूचना मुहैया कराने वाले को एक हजार रूपये ईनाम देने का ऐलान किया है, लेकिन यह इंतजाम समस्या खड़ी होने से पहले क्यों नहीं किए गए, इसको लेकर सवाल उठ रहे हैं।

यह भी पूछा जा रहा है कि किसानों पर मुकदमे करने के अलावा अब तक पराली जलाने की रोक-थाम में लगे कितने पुलिस एवं प्रशासनिक अधिकारियों पर इसकी विफलता को लेकर कार्रवाई की गई है। इस पूरे सीजन में कैथल जिले के उप कृषि निदेशक डॉक्टर पवन शर्मा को सस्पेंड किया गया है, जबकि प्रदेश के नियंत्रण बोर्ड ने सर्वाधिक पराली जलाने वाले तकरीबन पंद्रह जिलों को चिन्हित किया है। फिर वहां के अधिकारी ऐसी कार्रवाई से कैसे बच गए?

एक नवंबर को हरियाणा प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने सर्वाधिक पराली जलाने वाले 464 गांवों की एक सूची जारी की थी। इनमें पिछले साल 5453 जगह पराली जलाई गई थी। इस सूची में अंबाला के 30, भिवानी के 10, फतेहाबाद के 30, हिसार के 30, झज्जर के 17, जींद के 30, कैथल के 30, मुख्यमंत्री के जिला करनाल के 30, पलवल के 30, पंचकूला के 12 और फरीदाबाद, गुड़गांव, नूंह और महेंद्रगढ़ के दस-दस गांव शामिल हैं, जहां अब तक 2350 पराली जलाने के मामले सामने आए हैं। इनके अलावा बाकी जिलों में भी पराली जलाने की छिटपुट घटनाएं जारी हैं। इस के लिए अभी तक 218 किसानों पर मुकदमा दर्ज किया जा चुका है।

हरियाणा के कृषि एवं कल्याण विभाग के निदेशक अजीत बाला जोशी कहते हैं कि पराली जलाने वाले किसानों पर मुकदमे उन्हें परेशान करने के लिए नहीं, बल्कि पर्यावरण को बचाने के लिए दर्ज कराए गए हैं। सवाल है कि प्रदूषण रोकने का क्या यह सही तरीका है? मात्र किसानों पर मुकदमा दर्ज करने से पराली जलाने की घटनाएं थम जाएगी? प्रत्येक वर्ष हरियाण सरकार यही करती रही है। धान के अवशेष जलने से उत्पन्न प्रदूषण की समस्या से निपटने के नाम पर कुछ किसानों पर मुकदमा दर्ज कर इतिश्री कर लिया जाता है।

मुख्यमंत्री मनोहरलाल खट्टर का दावा है कि ऐसे प्रयासों से पिछले साल की तुलना में इस बार 6.5 प्रतिशत पराली कम जलाई गई है। सरकार ने अखबारों में विज्ञापन जारी कर दावा किया है कि 22 अक्तूबर तक राज्य में फसल अवशेष जलाने के क्षेत्र में 34 प्रतिशत की कमी आई है।

सरकार इसे बड़ी उपलब्धि मान रही है। जबकि चार साल पहले एनजीटी द्वारा दिए गए दिशा निर्देशों पर अमल करने की उसे आज भी फिक्र नहीं है। एनजीटी ने भविष्य में प्रदूषण की गहराती समस्या के मद्देनजर 5 नवंबर 2015 को किसानों को जागरूक करने और पराली जलाने पर रोक लगाने के निर्देश दिए थे। फिर एक याचिका पर सुनवाई करते हुए 10 दिसंबर 2015 को हरियाणा को 'हैप्पी सीडर' सहित दूसरी मशीनरी के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिए थे। हैप्पी सीडर मशीन से धान की कटाई के साथ पराली के बारीक अवशेष गेहूं के दानों पर गिरते हैं, जिससे नमी में कमी आती है और पैदावार बेहतर होती है।

इसके विपरीत पराली जलाने से खेतों की उर्वरा शक्ति प्रभावित होती है। खेतों में आग लगने का खतरा बढ़ता है। धरती के सूक्ष्म पोषक तत्व नष्ट होते हैं। नाइट्रोजन की कमी से उत्पादकता कमजोर पड़ती है और हवा प्रदूषित होने से लोगों में बीमारियों का जोखिम बढ़ जाता है। इसलिए एनजीटी ने प्रदेश सरकार को दो एकड़ से कम खेत वाले किसानों को मुफ्त में मशीन देने, दो से पांच एकड़ वाले किसानों को 5000 रुपए में और पांच एकड़ से अधिक खेत वाले कृषकों को 15000 रुपए में मशीन उपलब्ध कराने की हिदायत दी थी। अभी मशीन की लागत करीब 70 से 75 हजार रुपए है, जबकि बाजार में यह तकरीबन पौने दो लाख रुपए में बिक रही है। प्रदेश सरकार इस मशीन पर अधिकतम सब्सिडी 30 फीसदी देती थी, जिसे बढ़ाकर 50 प्रतिशत का ऐलान किया गया है। मगर किसान सरकार की इस घोषणा से खुश नहीं हैं।

अंबाला के किसान सुखबीर सिंह तथा कुरूक्षेत्र के किसान जसबीर सिंह ढुल कहते हैं कि पराली जलाने से फैलने वाले प्रदूषण की प्रदेश सरकार को फिक्र है तो सरकार को चाहिए कि वह कारगर ढंग से जागरूकता अभियान चलाए तथा मशीन खरीद पर एनजीटी के निर्देशों का पालन किया जाए।

अखिल भारतीय किसान सभा की सिरसा इकाई के प्रधान सुरजीत कहते हैं कि एनजीटी के निर्देशों का पालन करते हुए मुफ्त में या 5 से 15 हजार रूपए में भी मशीनें उपलब्ध कराने की तो छोड़िए, तीस प्रतिशत की सब्सिडी लेने में पसीने छूट जाते हैं। बैंकों और मशीन की एजेंसियों, विभागों के इतने चक्कर लगाने पड़ते हैं तथा कागजों की इतनी खानापूर्ति की जाती है कि जरूरत के समय मशीन मिलती ही नहीं। इसके अलावा केवल एक सीजन के लिए कीमती मशीन घर पर रखे रहना, आमतौर से किसान बुद्धिमानी नहीं मानते।

कुछ साल पहले हरियाणा के कृषि व किसान कल्याण विभाग ने लाखों रूपये खर्च करके कई जागरूकता रथ तैयार करवाये थे। इसका उद्देश्य गांव-गांव घूमकर प्रदूषण से होने वाले नुकसान और पराली के सदुपयोग के बारे में किसानों को बताना था। अफसोसजनक पहलू यह है कि इनमें से अधिकांश जागरूकता रथ इस समय विभाग के पंचकूला स्थित मुख्यलय में खड़े धूल फांक रहे हैं।

*(लेखक 'डाउन टू अर्थ' से जुड़े हैं।)* ❑

धारावाहिक

# आगाखां पैलेस
# बा का आखिरी कैदखाना

❑ गिरिराज किशोर

**पहला गिरमिटिया जैसा चर्चित उपन्यास प्रस्तुत कर चुके गिरिराज किशोर ने अब बा पर कलम उठायी है। बा पर कुछ भी लिखना बहुत कठिन था। उनके बारे में उपलब्ध जानकारियां नहीं के बराबर हैं। 'पहला गिरमिटिया' की सामग्री जुटाने में उन्हें कोई दो हजार पुस्तकों से मदद मिली थी। और 'बा' उपन्यास लिखते समय मुश्किल से दो पुस्तकें सामने थीं। वे उन सब लोगों से मिले, जिन्हें कस्तूरबा के बारे में थोड़ी-सी भी जानकारी थी और उन जगहों पर गये, जहां बा ने थोड़ा या बहुत समय बिताया था। इस तरह बनी यह कथा, यह इतिहास बा के अलावा खुद बापू के दो और रूपों को भी सामने रखता है–पति और पिता का रूप। प्रस्तुत है 'बा' का अगला अंश, जो बा-बापू : 150 के अवसर पर क्रमशः प्रकाशित हो रहा है। –सं.**

सब लोग चकित रह गये जब बा ने कहा, 'बापू नहीं हैं तो क्या हुआ, उनकी जगह मैं संबोधित करूंगी।'

वहां पर उपस्थित लोग फुसफुसाए, 'क्या बा इस जिम्मेदारी को निबाह पायेंगी, उनमें इतनी शारीरिक और मानसिक शक्ति है कि इस चुनौती का सामना कर सकें, गिरफ्तार हो जायेंगी तो क्या होगा?'

बा का तेवर बदल गया। बोली, 'क्या नादानी की बात है, जब सारा देश जेल में बंद होगा, तो मैं क्या बाहर रहूंगी?'

तय हुआ कि बा सुशीला के साथ जन-सभा में जायेंगी। जेल जाना पड़ा तो सुशीला संभाल लेगी। कस्तूरबा ने जो सभा में बोलना था, सुशीला को बोलकर लिखवाया, उसका अंश निम्नलिखित है—

गांधीजी ने कल रात दो घंटे चली बैठक में अपना हृदय उड़ेल दिया था। मैं उसमें क्या जोड़ सकती हूं। हमारे पास एक ही काम बचा है कि हम उनके सिद्धांतों पर खरे उतरें। भारत की महिलाओं को अपनी शक्ति साबित करनी होगी। गांधीजी के आह्वान पर इस संघर्ष से सबको जाति-धर्म का भेद भूलकर जुड़ना होगा। सत्य और अहिंसा ही उनका नारा है।

रविवार की शाम थी। बा पांच बजे शिवाजी पार्क जाने के लिए बिरला हाउस की सीढ़ियों से उतरीं। आखिरी सीढ़ी पर उनका पोता कनु गांधी, कागज पर बनाया गया बिल्ला लिये खड़ा था। बा ने पूछा, 'यह क्या है?'

'बा, यह करो या मरो का बिल्ला है। बापू ने कहा था कि हर स्वयंसेवक के सीने पर लगेगा। मैंने आपके लिए बनाया है।'

बा मुस्कुराई और बोली, 'यह मंत्र तो मेरे हृदय पर लिखा है। इस बिल्ले से याद दिलाकर क्या होगा।'

कस्तूरबा पोर्टिको में आयी, पीछे सुशीला थी। और भी बहुत से लोग थे। एक पुलिस अफसर इंतजार कर रहा था। वह आगे बढ़कर बोला, 'माता जी, आप शिवाजी पार्क न जाइए। वे आपको बंदी बना लेंगे।'

'एक मां कैसे घर में बैठी रह सकती है?' बा ने पूछा, 'जब बेटे-बेटियां गोरी सरकार द्वारा प्रताड़ित किये जा रहे हों।' कहकर वे कार की तरफ बढ़ गयी। वहां एक छोटे कद का आदमी कार का दरवाजा खोले शिवाजी पार्क ले जाने के लिए सावधान की मुद्रा में खड़ा था।

पुलिस अफसर पीछे-पीछे लगा था। उसे या तो यह आदेश था कि जो भी बिरला हाउस से बाहर जाये उसे गिरफ्तार कर लिया जाये या फिर वह बा को जाने से रोकना चाहता था। लेकिन कस्तूरबा को बंदी बनाने की उसकी हिम्मत नहीं पड़ रही थी। उसने आगे बढ़कर अंतिम आग्रह किया, 'माता जी मत जाइए।' कस्तूरबा उसकी तरफ देखकर हंसी और ड्राइवर को चलने को कहा। कार चल दी। उसने शायद बंदी बनाने का काम स्वयं न करके किसी और के लिए छोड़ दिया था।

शिवाजी पार्क में लगभग आठ हजार लोग शांति के साथ बैठे इंतजार कर रहे थे। बा के आगमन की घोषणा की गयी तो तालियां कुछ देर तक बजती रहीं। बा ने मंच पर पहुंचकर जयहिन्द कहा। जनता ने भी पुरजोर ढंग से जयहिन्द की गर्जना की। बा ने लिखा हुआ भाषण बिना हिचक, पूरे आत्मविश्वास के साथ पढ़ा। जनता पागल-सी हो गयी। एक तो बा के शब्दों में बा की अपनी भावना थी, दूसरे बापू को बंदी बनाये जाने के प्रति रोष था, तीसरे उनके सामने एक दुबली-पतली महिला खड़ी थी, जिसके पति को एक दिन पहले गोरी सरकार ने बंदी बनाकर अनजान जगह भेज दिया था। उसे लोग बापू और महात्मा के रूप में जानते थे। बोलते समय बा स्थिर थी, चेहरे पर ओजस्विता का भाव था। जैसे ही भाषण खत्म हुआ, पुलिस चुपचाप बा और सुशीला को उठा ले गयी। पुलिस को यह सूचना मिली थी कि बा के बाद सुशीला भाषण करेगी। बा की गिरफ्तारी का लोगों को भान भी नहीं था। बा को आर्थर जेल ले जाया गया। रास्ते में सुशीला को लगा कि बा निढाल है। नब्ज़ देखी। हल्की हरारत थी। बा की आंख से आंसू टपका तो सुशीला ने पूछा, 'यह क्या बा?'

बा पुलिस की गाड़ी के बाहर झांक रही थी पर चुप थी। लोग सड़क पर अपनी तरह आ-जा रहे थे, जैसे कहीं कुछ घटा ही न हो। चारों तरफ जिन्दगी थी। सब जिन्दगियां मिलकर जैसे एक धारा बन गयी हों। बा कुछ देर बाद सुशीला की तरफ घूमकर बोली, 'सुशीला, मुझे लग रहा है इस बार मैं जीवित वापिस नहीं आऊंगी।'

सुशीला को महसूस हुआ, जैसे उसके अंदर बर्फ की छुरी उतर गयी हो। उसने कहा, 'आप ऐसी निराशाजनक बातें क्यों कर रही हैं, बा? आप तो दूसरों को प्रेरणा देती हैं।'

'कुछ नहीं, ऐसा लगा। शायद अंग्रेज सरकार हम में से किसी को जीवित नहीं छोड़ेगी। उनकी हिंसा की तलवार बापू की अहिंसा के सामने भोथरी पड़ गयी है, वे अपनी तलवार को और अधिक धारदार बना रहे हैं।' बा की आवाज धीमी थी।

बा और सुशीला जब आर्थर जेल पहुंचे तो सुशीला ने बाहर देखा, लोग पैदल या तो अपने घर शाम का खाना खाने जा रहे हैं या और कामों में व्यस्त हैं। किसी को यह नहीं पता है कि बापू को बंदी बनाकर अनजान जगह भेज दिया गया है और बा गिरफ्तार करके आर्थर जेल लायी गयी है। उसका एकाएक उन सब पर चीखने का मन हुआ कि वह कहे कि तुम्हें क्या हो गया है? यह भी नहीं मालूम कि कौन आया है? क्या तुम बा को भी नहीं पहचानते? वह सिसक पड़ी।

जेल में बा को पतले दस्त शुरू हो गये थे। सुशीला ने डॉक्टर को बुलवाया तो वह दूसरे दिन आया। सुशीला ने उससे कोई दवा मंगाकर देने के लिए कहा। वह बोला, 'आप खरीद लीजिए।'

पहला सवाल था कि किससे मंगवाये, दूसरे उसके पास पैसे नहीं थे। उसने जेल से अपनी किसी मित्र को फोन करने के लिए पूछा। जेलर ने कहा, 'फोन नहीं हो सकता, सरकार का हुक्म है कि कैदियों का बाहर की दुनिया से कोई संपर्क न हो।'

बहुत कहासुनी के बाद शाम को दो सेब भेजे गये। दस्त जारी थे। दवा का कोई प्रबंध नहीं हो पा रहा था। सुशीला के कान में बा का 'वही' वाक्य घूम रहा था। चेहरे पर मुर्दनी-सी आ रही थी। जिस बैरक में रखा गया था, उसकी हवा साफ नहीं थी। मैट्रन से कहा तो उसने कहा कि उसके कमरे में आकर बैठ जायें। लेकिन बा वहां ज्यादा देर नहीं ठहरी, अपने बैरक में लौट गयी। वहां से बार-बार पाखाने जाना और भी कष्टदायक था।

उसी समय बैरक में एक महिला कैदी अपनी बच्चों को छोड़कर आयी थी। बा ने बड़े प्यार से उसका हाल पूछा। उस महिला की चिन्ता देखकर बा अपना दुःख भूल गयी। उसको ढांढ़स बंधाया। अंदर ही अंदर बापू की चिन्ता थी। क्या वे भारत का दुःख दूर कर पायेंगे? सुशीला समझाने का प्रयत्न करती थी, जब बापू ने सब कुछ भगवान पर छोड़ा हुआ है तो आप क्यों चिन्ता करती हैं। बा की आंखों में मन की वेदना साफ झलकती थी।

पहली रात को उन तीनों को, सो जाने के बाद बाहर से बंद कर दिया गया था। अंदर बहुत गर्मी और घुटन थी। अगले दिन उन तीनों ने अपने बिस्तर बरामदे में लगा लिये थे। पाखाने की नाली टूटी होने के कारण बदबू आ रही थी। वहां कमरे से ज्यादा हवा थी। बा थकी होने के कारण देर तक सोती रही थी। 9 बजे मेट्रन ने आकर बताया कि बा और सुशीला को वहां से दूसरी जेल में स्थानांतरित किया जाना है। दस बजे बा को जगाया, सामान बांधा। बा के लिए फल मंगाने के लिए पैसे नहीं थे। साथ वाली महिला ने अपना बटुआ सुशीला को दे दिया। उसमें केवल बीस रुपये थे। सुशीला ने पांच रुपये ले लिये, और उसकी एवज में अपनी एक रंगीन साड़ी उसे दे दी। वह महिला रंगीन साड़ी लाना भूल गयी थी।

बा ने जेल सुपरिटेंडेंट के कमरे में पहुंचने पर पूछा, 'हमें कहां भेजा जा रहा है?'

'मि. गांधी के पास।' सुनकर बा के मन को राहत मिली।

दोनों को स्टेशन पर लाकर प्रतीक्षालय में बैठा दिया गया। स्टेशन पर हमेशा की तरह भीड़-भड़क्का था। बा बोली, 'सुशीला देख, दुनिया तो ऐसे चल रही है जैसे कुछ हुआ ही न हो। बापू जी को इस तरह स्वराज कैसे मिलेगा?'

बा की वाणी में छलकती करुणा को देखकर सुशीला की आंखें भर आयीं। वह बोली, 'बा सब ईश्वर पर छोड़ दो, सब वही करेगा, हमें अपना काम करते जाना है।'

गाड़ी आने के समय पुलिस अफसर आया, वे दोनों भी अगली यात्रा के लिए तैयार हो गयीं। बापू से मिलने का उतावलापन था। गाड़ी आने पर दोनों को फर्स्ट क्लास में बैठा दिया गया। गाड़ी पूना के लिए रवाना हो गयी।

गाड़ी सुबह सात बजे एक छोटे स्टेशन चिंचवाड़ा पर रुकी। एक पुलिस अफसर आया, बा शौचालय में थी। रात-भर दस्त आये थे। चेहरे का रंग पीला पड़ गया था। गाड़ी पांच मिनट लेट हो गयी। स्टेशन पर उनके लिए कुर्सी तैयार थी। बा ने कुर्सी पर बैठने से मना कर दिया। बा का मानना था कि जब तक शरीर चले, चलाओ। बाहर मोटर खड़ी थी। करीब आधा घंटे में गाड़ी उन्हें लेकर आगा खां पैलेस पहुंची। बा सुशीला का सहारा लेकर सीढ़ियां चढ़ पायी। बरामदे में कैदी झाड़ू लगा रहे थे। बा ने पूछा, 'बापूजी का कमरा कहां है?'

जेल में भी उन्हें सब बापूजी कहते थे।

उसने इशारे से बताया, आखीर में। दोनों धीमे-धीमे चलकर बापू के कमरे में पहुंचीं। बापू हाथ में पेंसिल लिये कोई लेख सुधार रहे थे। महादेव भाई पीछे खड़े कागजों पर नजर गड़ाये थे। बीच-बीच में या तो बापू कुछ बोलते थे या महादेव भाई पूछ लेते थे। जब वे दोनों नजदीक पहुंच गयीं तो महादेव भाई की नजर पड़ी। बा को देखकर उनका चेहरा बच्चे की तरह खिल गया जैसे बिछड़ी मां मिल गयी हो लेकिन बापू के चेहरे पर तनाव उभर आया। उन्होंने सोचा कि शायद दुर्बलता के कारण बा, बापू का विछोह न सह पायी हो। बापू ने बेरुखी से पूछा, 'तूने यहां आने के लिए सरकार को लिखा या सरकार ने बंदी बनाकर भेजा है?'

बा की समझ में नहीं आया, वे ऐसे क्यों पूछ रहे हैं। सुशीला ने उत्तर दिया, 'शिवाजी पार्क में आपके आदेशानुसार, जन समुदाय को बा के संबोधित करते ही, पुलिस ने हम दोनों को बंदी बनाकर आर्थर जेल भेज दिया और वहां से यहां स्थानांतरित कर दिया है।'

सुशीला ने बताया कि आर्थर जेल में आने के बाद से ही बा को दस्त आ रहे हैं। महादेव भाई ने दौड़-भाग करके एक खाट का प्रबंध किया। उधर सामान पहचानने के लिए बुलावा आ गया। सबके मना करने के बाद भी, कमजोरी के बावजूद, बा सुशीला के साथ गयी। जब सामान पहचानने के बाद वह लौट रही थी तो जेल सुपरिटेंडेंट मि. केटली मिल गये। वे बहुत आदर के साथ बा को अंदर लाये। ब्रिटिश सरकार के अंग्रेज अफसर भी बापू का सम्मान करते थे। बा को सुलाने के बाद सुशीला ने दवा का नुस्खा लिखा। यह चकित करने वाली बात थी कि बापू से मिलने के बाद मन को बोझ हल्का हो गया था, दस्त ठीक हो गये थे। बा स्वभाव से सक्रिय रहती थी। अगले दिन से ही बापू की देखभाल और इलाज से घूमना-फिरना आरंभ कर दिया। बापू के भोजन के समय उनके पास बैठना, अपने हाथ से परोसना आदि उसी दिन से आरंभ कर दिया। सुशीला बा का भोजन भी वहीं ले आती थी। बा के एक हाथ का पंखा हिलता रहता था। दरअसल कहने भर को वह पैलेस था पर मच्छरों की भरमार थी। दूसरे लोग तो जरूरत के वक्त पंखा ढुलाते थे, पर बा का पंखा कभी रुकता ही नहीं था। *...क्रमशः अगले अंक में*

## अभिजीत बनर्जी

# सवालों की दहलीज पर जवाबों की कंदील

❑ योगेन्द्र यादव

अभिजीत बनर्जी और उनके दोस्तों ने अर्थशास्त्र को लोगों की असल जिंदगी से जोड़ने का काम किया है. ये लोग वहां पहुंचते हैं, जहां नीतियां जमीन से जुड़ती हैं, लोगों पर असर डालती हैं.

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) में हमलोग अलग-अलग विषयों में थे लेकिन हमारा एम.ए का सत्र (1981-83) एक था. उस जमाने में जेएनयू में सेंटर फॉर इकॉनॉमिक स्टडीज एंड प्लानिंग का बड़ा जलवा था और अभिजीत इसी सेंटर से एम.ए. (इकॉनॉमिक्स) कर रहे थे. मैं तब जेएनयू में पढ़ाई के लिहाज़ से तनिक सादा माने जाने वाले राजनीतिशास्त्र में एम.ए. कर रहा था. मैंने पहली बार अभिजीत बनर्जी को लाइब्रेरी के पीछे बने, जैसे-तैसे खड़ा कर लिए गये ढाबा (अब ये जगह मुख्यद्वार में तब्दील हो गई है) पर देखा था। कंधे पर शांतिनिकेतनी झोला (ये झोला जेएनयू वालों के रेडिकल झोला से तनिक अलग होता है) टांगे कमसिनी के दिनों को बमुश्किल पार कर पाया एक चश्माधारी लड़का इतिहास के विद्यार्थियों के साथ बड़े जोश में बहस कर रहा था. बहस में उलझे इस समूह से मैं तनिक दूरी बनाकर खड़ा था, उस समय मैं दिल्ली की अंग्रेजीदां जमात के बीच अपने को तनिक असहज महसूस करता था और अभिजीत की प्रतिभा का मेरे ऊपर एक हौव्वा सा बना हुआ था. उनके बारे में एक हवा ये बनी हुई थी कि वे प्रेसिडेंसी के टॉपर हैं और उन्हें पहले सेमेस्टर में 'ए प्लस' (जेएनयू के 9 प्वाइंट वाले स्केल में सबसे ऊंचा स्थान) मिला हुआ है. राजनीति में उनकी कोई खास रुचि नहीं थी. कैम्पस में सक्रिय किसी भी राजनीतिक संगठन से उनका जुड़ाव नहीं था लेकिन रात के भोजन के बाद के वक्त में जेएनयू परिसर में जो राजनीतिक सभाएं हुआ करती हैं,उनमें वे मौजूद रहा करते थे.

उन दो सालों में हमारे बीच एक-दूसरे से दुआ-सलाम तो हुआ करती थी लेकिन इससे ज्यादा कुछ नहीं. हमें एक-दूसरे को नये सिरे से जानने का मौका बीस साल बाद मिला, जब वे हार्वर्ड में मेरे एक व्याख्यान को सुनने आये। इसके बाद से—शायद 2003 का साल था वह—हम लोग दोस्त बन गये. मैं अमेरिका जाता हूं, तो उनसे मुलाकात होती है और वे भी अक्सर ही भारत आते हैं, तो यहां मुझसे भेंट करते हैं. किसी भी अच्छे बंगाली बौद्धिक की भांति वे दुनिया की तमाम चीजों पर साधिकार बोल सकते हैं। साहित्य से लेकर सिनेमा (दरअसल अभिजीत बनर्जी ने एक छोटी सी डॉक्यूमेंटरी फिल्म का निर्देशन भी किया है) तक और राजनीति से लेकर इतिहास तक सारा कुछ उनकी रुचि के दायरे में शामिल है. मेरा दायरा इससे तनिक कमतर है. वे भोजन-प्रेमी हैं लेकिन ज्यादातर बंगाली पुरुषों के उलट भोजन पकाना भी बेहतर जानते हैं. यों भोजन में मेरी कोई वैसी रुचि कभी नहीं रही.

एक गड़बड़झाला ये भी है कि हमारी राजनीति एक-दूसरे से मेल नहीं खाती. उन्होंने 'आप' सरीखे राजनीतिक प्रयोग में तो बड़ी दिलचस्पी दिखायी थी लेकिन भारत की लोकतांत्रिक समाजवादी परंपरा या फिर स्वराज इंडिया सरीखे प्रयोग में उनकी कोई खास दिलचस्पी नहीं है. इधर मेरे सहकर्मी और दोस्त इस बात पर हैरान-परेशान रहते हैं कि आखिर मैं अभिजीत बनर्जी के लिखे और किये में क्योंकर रुचि लेता हूं. इस देश की राजनीति की 'लाल-धारा' और 'नील-धारा' भी अभिजीत बनर्जी को कोई मूलगामी बदलाव की सोच वाला शख्स नहीं मानती. आंदोलन के मेरे कई साथी अभिजीत बनर्जी के सुझाये कुछ नीतिपरक नुस्खों से बड़े खफा रहते हैं, खासकर प्रत्यक्ष नगदी हस्तांतरण और स्कूली बच्चों की शैक्षिक परिलब्धि के आकलन की उनकी बात पर मेरे साथियों की भौंहें कुछ ज्यादा ही चढ़ी रहती हैं. जो भी हो, मैं अभिजीत बनर्जी से बातें करने और उनसे सीखने में यकीन रखता हूं.

और, मेरे इस यकीन की वजह वह नहीं है, जो नोबेल पुरस्कार देने वाली समिति ने बतायी है. अभिजीत बनर्जी की ख्याति तो इस बात के लिए फैली है कि वे किसी भी नीति की कारअमली और कामयाबी के बारे में खूब सारे पुख्ता सबूत जुटाते और अपने शोध-अनुसंधान के सहारे व्यावहारिक समाधान सुझाते हैं. पुख्ता सबूत जुटाने के लिए बड़ी सूझ के साथ प्रयोग करने होते हैं और यह एक पद्धति है। ऐसी सोच के प्रस्तावक के रूप में अभिजीत बनर्जी की धाक है. एस्थर डफलो तथा क्रेमर सरीखे अपने सहयोगियों के साथ अभिजीत बनर्जी ने रैंडम कंट्रोल ट्रायल (आरसीटी) का कुछ ऐसा असरदार इस्तेमाल किया है कि अर्थशास्त्र के भीतर विकासमूलक अर्थशास्त्र कहे जाने वाले अनुशासन की एक दशक के भीतर शक्ल ही बदल गई है जबकि किसी जमाने में आरसीटी चिकित्सा-जगत की ही चीज हुआ करती थी. और, इसी वजह से अभिजीत बनर्जी तथा उनके दो सहकर्मियों को नोबेल पुरस्कार समिति ने चुना है, वरना इतनी कम उम्र में नोबेल पुरस्कार अमूमन नहीं मिला करता. लेकिन जैसा कि एंगस डिटॉन सरीखे अर्थशास्त्रियों का कहना है, आरसीटी सबूत जुटाने की एक विधि के तौर पर न तो अनिवार्य है और न ही उसे पर्याप्त कहा जा सकता है. ज्यां द्रेज ने चेताया है कि सिर्फ आरसीटी के आधार पर नीतियां सुझायी जायें तो मामला लुटिया डुबोने वाला भी बन सकता है. प्रणब वर्धन सरीखे अर्थशास्त्री ने भी आगाह किया है कि आरसीटी का जोश भरा चलन नीतियों को गहरे और व्यापक रूप से प्रभावित करने वाले मुद्दों की तरफ से हमारा ध्यान भटकाने वाला भी साबित हो सकता है.

लेकिन अभिजीत की अर्थशास्त्रीय युक्तियों से मेरा एक किस्म का लगाव है, इसलिए कि उसमें सूझ के कुछ बुनियादी किस्म के सूत्र मिल जाते हैं और ये विचार-सूत्र सार्वजनिक नीति के निर्माण में रुचि रखने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए प्रासंगिक हो सकते हैं. भारत में सार्वजनिक नीतियों के निर्माण पर विचारधाराओं की छाया कुछ ज्यादा ही गहरी है, उसमें सोच का अंदाज एकदम से एक झटके में अंगना-दुअरा बुहार लेने वाला होता है, उम्मीदें भी हद से ज्यादा पाल ली जाती हैं और इसी का नतीजा है कि जब ऐसी किसी सार्वजनिक नीति की आलोचना होती है तो उसमें तिताई एकदम से जीभ जला देने वाली होती है. अभिजीत और उनके सहकर्मियों ने हमें इस अतिचारी रुझान से बचने की जरूरी दवा सुझायी है और इसी कारण मेरे जैसे राजनीतिक कार्यकर्ता को उनकी बातें ध्यान से सुननी चाहिए.

जो लोग आर्थिक नीतियों के दायरे में सामाजिक नीतियों का निर्माण करते हैं, वे किसी एक मूल स्थापना से शुरू करते हैं और ऐसा करना भी चाहिए लेकिन फिर इस मूल स्थापना से शुरू करने के तुरंत बाद नीति-निर्माण करने वाले सीधे एक लंबी छलांग लेते हुए नीतिगत समाधान सुझाने के मरहले पर चले आते हैं. साध्य और साधन को आपस में जोड़ने का यह एक विचित्र तरीका है. मिसाल के लिए, जो लोग समानता के मूल्य के हामी हैं, वे राजसत्ता पर सेंत-मेंत में विश्वास करके चलते हैं, सरकारी क्षेत्र पर उनका गहरा विश्वास होता है और वे नियंत्रण तथा नियमन के भी हामी होते हैं, जबकि स्वछंदतावादी इस सोच के ठीक उल्टे सिरे से सोचते हैं. वामपंथी और दक्षिणपंथी दोनों ही खेमों में सोच के बने-बनाये सांचों के भीतर रखकर नीतियां तैयार की जाती हैं. ऐसे में कोई भी नीति अपनी पूर्ववर्ती नीति का अगला और सुधरा संस्करण भर जान पड़ती है और नयी न होने के कारण बहुत उपयोगी साबित नहीं हो पाती. अभिजीत और उनके सहकर्मियों ने दरअसल लोक-कल्याणकारी राज्य के मूल्यों को बाजार आधारित अर्थव्यवस्था के औजारों से जोड़ने और दोनों के बीच तालमेल कायम करने की कोशिश की है और हमें याद रखना चाहिए कि हम चाहे लोक-कल्याणकारी राज्य के मूल्यों के कितने भी हिमायती हों, दरअसल हमारा रहना बाजार आधारित अर्थव्यवस्था के भीतर ही हो रहा है.

अभिजीत बनर्जी और उनके सहकर्मियों ने ऐसा करने के लिए सार्वजनिक नीतियों को लेकर होने वाली बड़ी बहसों को छोटे-छोटे हिस्सों में तोड़ा है और हर टुकड़े के लिए उन्होंने पुख्ता सबूतों के सहारे समाधान सुझाये हैं. आज वह वक्त रहा ही नहीं कि हम सबके लिए एक-सी स्कूली शिक्षा के गुण-दोषों के हिसाब से सोचें और इसका प्रस्ताव करें.

**अभिजीत बनर्जी**

दरअसल अब समय कुछ ऐसा आन पड़ा है कि हमें सरकारी स्कूलों में शिक्षकों की अनुपस्थिति और स्कूल की पढ़ाई के मामले में बच्चों की शैक्षणिक परिलब्धियों की कमी को दूर करने के लिए नये सिरे से सोचना होगा. बहस अपने आम या कह लें सर्वसामान्य ढर्रे से हटकर किन्हीं खास समस्याओं पर केंद्रित हो तो ज्यादा सार्थक और उपयोगी हो सकती है. इससे हमारे नीति-निर्माता नीतियों के सबसे कमजोर पहलू पर ध्यान देने को बाध्य होते हैं और यह पहलू है हमारी नीतियों की बनावट का. महिला आरक्षण विधेयक से लेकर शिक्षा का अधिकार कानून तक हम ऐसी बहुत-सी नीतियां देख चुके हैं, जिनको बनाने के पीछे मंशा तो नेक थी लेकिन उनके नतीजे उम्मीद के उलट आये.

हमारे नीति-निर्माताओं में ब्यौरों को लेकर एक उपेक्षा भाव होता है, लेकिन नीतियों की बनावट पर ध्यान दिया जाये तो इस बीमारी से छुटकारा मिल जायेगा. अभिजीत, उनके सहकर्मियों और छात्रों की सबसे खुश करने वाली बात ये है कि ये लोग वहां पहुंचते हैं, जहां नीतियां जमीन से जुड़ती हैं, लोगों पर असर डालती हैं. ऐसी जगहों पर जाकर मौका-मुआयना के आधार पर वे वहां के एक-एक ब्यौरे को बारीकी से इकट्ठा करते और समझते हैं। उन्हें ये फिक्र नहीं सताती कि ऐसा करते हुए उनकी कमीज की चमक तनिक मंद पड़ जायेगी. दरअसल सार्वजनिक नीतियों का निर्माण भी इस रीति से होना चाहिए. इस अर्थ में देखें तो बंद और आरामदेह कमरों में ज्ञान की महीन कताई करने में मशगूल रहने वाले अर्थशास्त्र जैसे विषय को अभिजीत बनर्जी, एस्थर डफलो और क्रेमर ने असल जिंदगी से जोड़ने का काम किया है. नीति-निर्माण में राजसत्ता की भूमिका को लेकर एक अजब सनक भरा रुझान लोगों में देखने को मिलता है और सार्वजनिक नीतियों के असर को जानने-समझने के लिहाज से जैसी परीक्षण-विधि अभिजीत बनर्जी तथा उनके सहकर्मियों ने तैयार की है, वह एक जरूरी दवा साबित हो सकती है. नीतियां मान-मूल्यों से निरपेक्ष न हों लेकिन साथ ही अपने वांछित लक्ष्य को भी हासिल करें। किसी राजनीतिक कार्यकर्ता को आर्थिक नीतियों के बाबत इस सिरे से सोचने की जरूरत होती है और अभिजीत बनर्जी तथा उनके सहकर्मियों का काम इस मामले में रहबरी कर सकता है.

अभिजीत बनर्जी को अब नोबेल पुरस्कार मिल चुका है तो क्या हम उम्मीद करें कि वे अपने काम को कुछ कदम और आगे ले जायेंगे? हमारे अभी के वक्त में जरूरत दरअसल नीति-निर्माण का एक ऐसा ढांचा तैयार करने की है, जिसमें नैतिक मान-मूल्य, पर्यावरणीय टिकाऊपन तथा आर्थिक औचित्य आपस में एकसार होकर गुंथे रहें. मैंने अपने एक लेख में इसे इको-नॉर्मिक्स की तलाश जैसा नाम दिया है.

हम फिलहाल जिन आर्थिक विचारधाराओं के घेरे में चल रहे हैं, उसमें इको-नॉर्मिक्स सरीखा ढांचा मौजूद नहीं है. अभिजीत उर्वर मस्तिष्क के स्वामी और उन चंद लोगों में एक हैं, जो इस साधारण मगर हमारे वक्त के सबसे जरूरी मसले को हल कर सकते हैं. ❑

# आज की प्रासंगिक रणनीति : नागरिक अवज्ञा आंदोलन

❑ डॉ. आनन्द प्रकाश तिवारी

आज समय काफी बदल चुका है। दमन, उत्पीड़न, अधिकार हनन का स्वरूप भी बदला है। सत्ता से सीधा संघर्ष भी अब सम्भव नही है। आंदोलन के दमन और शमन का तरीका भी बदल गया है। वहीं आंदोलनकारी भी रोज नए नए प्रयोग कर रहे हैं। चीन जैसे देश की उच्च तकनीक सम्पन्न सत्ता से संघर्ष की रणनीति में भी हांगकांग के आंदोलनकारियों ने अद्भुत प्रयोग किया। वर्तमान संचार प्रणाली को धता बताते हुए लाखों की संख्या में आंदोलनकारी एकत्र हुए। सरकारी संस्थानों को घेर लिया। आंदोलनकारियों के सामूहिक नेतृत्व के आगे चीनी शासन प्रशासन बौना नज़र आने लगा। अंततः उनकी जायज़ मांगों को मानना पड़ा।

भारत में भी आंदोलनात्मक रणनीति पर प्रयोग की आवश्यकता है। गांधी द्वारा आजमाया गया सविनय अवज्ञा आंदोलन कुछ परिमार्जन के साथ आज भी सर्वाधिक उपयुक्त रणनीति की तरह आजमाया जा सकता है।

31 जनवरी 1930 को, कुछ हफ्तों की प्रतीक्षा के बाद, महात्मा गांधी ने इरविन को एक अल्टीमेटम दिया। संवैधानिक परिवर्तन के किसी भी उल्लेख से बचते हुए, गांधीजी के पत्र में कई लोकप्रिय मांगों, विशेषकर सैन्य व्यय में कमी, भूमि कर में 50 प्रतिशत की कमी और नमक कर के खात्मे के साथ-साथ सरकार के एकाधिकार की भी गूंज थी। नमक बिक्रीकर का भुगतान सबसे गरीब भारतवासी को भी करना था, इसलिए गांधी ने इसे अपने सविनय अवज्ञा अभियान का प्रस्थान बिंदु बना दिया। वायसराय इरविन ने गांधी के ग्यारह सूत्री अल्टीमेटम को खारिज कर दिया। गांधी ने इसका जवाब 12 मार्च से 6 अप्रैल तक गुजरात में अहमदाबाद से दांडी तक नमक के निहितार्थ 'नमक मार्च' का आयोजन करके दिया। उनके साथ उनके आश्रम के 79 सदस्य भी थे। नमक मार्च एक विशाल लोकप्रिय प्रतिक्रिया की तरफ बढ़ चला। हर जगह, भीड़ ने नमक बनाने और इसे सीधे बेचने का फैसला कर लिया, जबकि किसानों ने अपने भूमि करों का भुगतान बंद कर दिया। इसने पंजाब और बंगाल में उग्रवादी क्रांतिकारियों को भी प्रेरित किया, हालांकि गांधी ने कभी भी उनकी लाइन का समर्थन नहीं किया। 18 अप्रैल को सूर्य सेन के नेतृत्व में क्रांतिकारियों ने बंगाल में सनसनीखेज चटगांव शस्त्रागार पर छापामार हमला कर दिया। पहले चरण (1930-31) में सविनय अवज्ञा आंदोलन का असर दस साल पहले असहयोग आंदोलन की तुलना में अधिक दिखाई दे रहा था। कई क्षेत्रों में, औपनिवेशिक प्रशासन गांवों में छोटे कर्मचारियों के इस्तीफे से लगभग बंद हो गया। वहाँ के लगातार विरोध अक्सर बड़े पैमाने पर होने लगे। गिरफ्तारियों की कुल संख्या नब्बे हजार से अधिक हो गई। मई के महीने से सरकार का दमन प्रत्यक्ष रूप से कठोर हो गया। निहत्थे सत्याग्रहियों के खिलाफ पुलिस बर्बरता के मामलों की अंतर्राष्ट्रीय प्रेस में व्यापक रूप से चर्चा हुई। इन सबके बावजूद, यह आंदोलन पूरे तौर पर अहिंसक पर बना रहा। इसने कांग्रेस और जनता दोनों पर गांधी के बढ़ते प्रभाव पर मुहर लगा दी। सविनय अवज्ञा आंदोलन, असहयोग आंदोलन से कई मामलों में अलग है। छात्रों की भागीदारी, शहरी बुद्धिजीवियों और कामकाजी वर्ग की भागीदारी अधिक थी। बंबई या अहमदाबाद जैसे बड़े शहर, सविनय अवज्ञा आंदोलन के गढ़ बनते दीखे। ग्रामीण इलाकों में आंदोलन की सफलता, अत्यंत उल्लेखनीय थी। उत्तर पश्चिमी सीमांत प्रांत में खान अब्दुल गफ्फार खान जो सीमांत गांधी के नाम से जाने जाते थे, ने अपने अनुयायियों का नेतृत्व एक बड़े पैमाने पर हुए विद्रोह में किया। उनके अनुयायियों को 'लाल शर्ट' के रूप में जाना जाता था, क्योंकि उन्होंने लाल रंग का कुर्ता पहना हुआ था। किसानों और छोटे भूस्वामियों के साथ जिस संगठन की रचना की गई थी, उसे खुदाई खिदमतगार (भगवान के सेवक) कहा जाता था। गफ्फार खान गांधी के समर्पित अनुयायी और कांग्रेस के प्रमुख सदस्य बन गए। नागरिक अवज्ञा आंदोलन की अन्य विशिष्ट विशेषता जन संघर्ष में पहली बार महिलाओं की अधिक भागीदारी थी। इस गिनती से सविनय अवज्ञा आंदोलन एक महत्वपूर्ण अभियान बन गया। दूसरी ओर हालांकि मुसलमानों की भागीदारी में वास्तविक गिरावट आती रही। नागरिक अवज्ञा आंदोलन के पहले चरण को दबाने के दौरान, लार्ड इरविन की सरकार ने बातचीत जारी रखी। नवम्बर, 1930 में राजनीतिक दलों को गोलमेज सम्मेलन के लिए आमंत्रित किया गया था। कांग्रेस ने बैठक में भाग लेने से इनकार कर दिया था, लेकिन बैठक का कोई उद्देश्य नहीं था। दूसरा गोलमेज सम्मेलन जनवरी, 1931 में आयोजित किया गया था। इस बीच कांग्रेस नेतृत्व को जेल से रिहा कर दिया गया। वे इस शर्त पर सम्मेलन में भाग लेने के लिए सहमत हुए कि सरकार दमनकारी कानूनों को वापस ले लेगी और राजनीतिक कैदियों को रिहा कर देगी। इस पर गांधी और लॉर्ड इरविन दोनों ने सहमति व्यक्त की थी।

इस तरह नए स्वरूप में नागरिक अवज्ञा आंदोलन निर्णायक भूमिका में सफल रहा। आज के हालात में भी जनतांत्रिक आंदोलनों के लिए यह रणनीति अधिक कारगर साबित हो सकती है। बशर्ते आंदोलन में सत्याग्रह के नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों का निर्वाह पूरी निष्ठा के साथ किया जा सके। ❑

## दो दिवसीय राष्ट्रीय विचार मंथन का आयोजन

गांधी-150 के सिलसिले में देश भर में विभिन्न कार्यक्रम हो रहे हैं। विभिन्न संस्थाओं और संगठनों से जुड़े लोग इन कार्यक्रमों के जरिये जनमानस तक पहुंच रहे हैं। 'महात्मा गांधी और डॉ. राममनोहर लोहिया के सपनों का भारत कैसे बनायें युवा' इस विषय पर आगामी 13-14 दिसंबर को कोलकाता में दो दिवसीय राष्ट्रीय विचार मंथन का आयोजन किया जा रहा है। गांधी और लोहिया के विचारों का अपने सामाजिक कर्तृत्व और नियमित लेखन-संभाषण के जरिये प्रसार करने में लगे अनेक बुद्धिजीवी व सामाजिक कार्यकर्ता इस कार्यक्रम में देशभर से शामिल होंगे। कार्यक्रम के आयोजक और डॉ. लोहिया से जुड़े शोध कार्यों में संलग्न स्वतंत्र पत्रकार अभिषेक रंजन सिंह के अनुसार कार्यक्रम चार सत्रों में सम्पन्न होगा तथा हर सत्र में विषय के अलग-अलग आयामों पर चर्चा आयोजित की जायेगी। जो भी इस कार्यक्रम में शामिल होना चाहे, वह मोबाइल नंबर 9818579942 पर या ई-मेल आईडी arsinghiimc@gmail.com पर संपर्क कर सकता है।

## गांधी-150 और विनोबा-125 पर असम सर्वोदय मंडल का कार्यक्रम

असम सर्वोदय मंडल की तरफ से 11 सितंबर को शिवसागर के पाटसांको में विनोबा की 125वीं जयंती का कार्यक्रम संपन्न हुआ। इस अवसर पर बा और बापू की 150वीं जयंती भी मनायी गयी। कार्यक्रम की शुरुआत प्रभात फेरी से हुई, जिसमें विद्यार्थियों और आम नागरिकों ने सहभागिता की। इसके बाद असम के पौराणिक ग्रंथों और प्राचीन लिपियों की एक प्रदर्शनी भी लगायी गयी। प्रदर्शनी में बा, बापू और बाबा के अलावा असम के सर्वोदय नेताओं के चित्र भी प्रदर्शित किये गये। प्रदर्शनी के दौरान ही सूत्रयज्ञ का कार्यक्रम भी हुआ। अंत में एक सभा आयोजित की गयी, जिसमें नब्बे वर्ष की आयु के ऊपर के गांधीजनों को अंगवस्त्र तथा सम्मान-पत्र देकर सम्मानित किया गया।

**–भीमकांत कोंवर**

## आरसीईपी समझौते के विरोध में किसानों का मार्च

अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय समिति सीतामढ़ी के तत्वावधान में सैकड़ों किसानों ने मेहसौल चौक सीतामढ़ी से कारगिल चौक तक जुलूस निकाला और नुक्कड़ सभा की। बैंकाक में हो रहे भारतीय किसान विरोधी आरसीईपी समझौते का पुतला दहन किया तथा सरकार के खिलाफ नारेबाजी की। वक्ताओं ने कहा कि आसियान तथा एसटीएफ के 16 देशों के साथ मुक्त व्यापार समझौते से भारतीय डेयरी उद्योग तथा उससे जुड़े किसान, छोटे व्यापारी व अन्य किसान तबाह होंगे। सीमा शुल्क समाप्त होने से भारत, असियान तथा चीन के सामानों का बाजार बनकर रह जायेगा तथा देशी उद्योग भी प्रभावित होंगे। उन देशों में किसानों को काफी सुविधा मिलने से उनका उत्पाद सस्ता होता है। इस समझौते पर हस्ताक्षर भारत के लिए आत्मघाती होगा।

इस कार्यक्रम में किसान सभा, संयुक्त किसान संघर्ष मोर्चा तथा जय किसान आन्दोलन के किसान नेता डॉ. आनन्द किशोर, जयप्रकाश राय, केदार शर्मा तथा विश्वनाथ बुन्देला सहित कई वक्ताओं ने अपने विचार व्यक्त किये तथा सरकार की किसान विरोधी नीति के खिलाफ आन्दोलन तेज करने का संकल्प व्यक्त किया, जिसका मौजूद सभी किसानों ने समर्थन किया।

**–डॉ. आनन्द किशोर**

## जन स्वाध्याय अभियान

उत्तर प्रदेश सर्वोदय मण्डल द्वारा आयोजित गांधी चर्चा का कार्यक्रम दिनांक 22 अक्टूबर 2019 को प. मदन मोहन मालवीय इंटर कालेज इटौली, उन्नाव में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर सर्वोदय मण्डल के जिला अध्यक्ष नसीर भाई, पूर्व अध्यक्ष राम शंकर भाई और सेवानिवृत्त प्रधानाचार्य रामअवतार जी के अलावा प्रधानाचार्य मुकेश जी, शिक्षक- नागेन्द्र, जगदीश और संरक्षक होरीलाल जी उपस्थित रहे. कार्यक्रम में उपस्थित बच्चों ने चर्चा और ज्ञान परीक्षा में सहर्ष भाग लिया और वहां मौजूद वरिष्ठ गांधीजनों से अनेक प्रश्न पूछे। बच्चों की जिज्ञासा और जानकारी प्राप्त करने के उनके उत्साह से अभिभूत प्रतिभागी अतिथियों ने उनके प्रश्नों के उत्तर दिये। बाद में बच्चों ने अपने सवालों के समुचित जवाब मिलने पर अपनी खुशी जाहिर की।

**–रघुराज सिंह मगन**

## मोहन से महात्मा कठपुतली नाटक

कोई भी कहानी तब तक चलन में नहीं आती, जब तक कोई उसे सुनना नहीं चाहता। जिन कहानियों से हम प्यार करते हैं, वे हमेशा हमारे बीच रहती हैं।' जेके राउलिंग द्वारा कही गई ये बात कि 'कहानियां कभी नहीं मरती हैं' इसलिए कहानी सुनाने को एक कला रूप के रूप में विकसित किया गया है। यह कला रूप अपने तरीके का अद्वितीय और सूचनात्मक माध्यम है!

3 अक्टूबर, 2019 को भारत नेशनल पब्लिक स्कूल और हैप्पी इंग्लिश स्कूल, नई दिल्ली के कक्षा 8 के छात्रों को एक अद्भुत जीवंत पुतुल नाटिका की प्रस्तुति देखने का मौका मिला। ये प्रस्तुति राजीव गांधी फाउंडेशन द्वारा महात्मा गांधी के 150 वें जन्मदिन के उपलक्ष्य में की गई थी, जिसमें मिथिलेश दुबे और उनकी कुशल टीम को 'मोहन से महात्मा कठपुतली' शो दिखाने के लिए आमंत्रित किया गया था।

यह कहानी गांधीजी के बचपन की घटनाओं से शुरू हुई, जिसने उन्हें समाज में सभी को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया और इस तरह समानता की ओर अग्रसर किया और अहिंसा के मार्ग पर चलने का अनमोल संदेश भी दिया। इस अद्भुत प्रस्तुति में राष्ट्र के प्रति समर्पण भावना के साथ-साथ हास्य, क्रोध, खुशी और निश्चित रूप से गर्व की भावना निहित थी। इसके अलावा, इस कार्यक्रम की सुंदरता के बीच गाने और कविताएं भी शामिल थीं। कुल मिलाकर, यह प्रस्तुति पूरी टीम के प्रयासों से बना एक सराहनीय प्रदर्शन था।

बच्चों के लिए इस तरह के एक्सपोज़र ही उन्हें कल के लिए और अधिक जागरूक और जिम्मेदार नागरिक बनाएंगे, इस प्रकार उन्हें उन तरीकों से प्रेरणा मिलेगी, जिसकी कोई कभी कल्पना भी नहीं कर सकता!

**–शिमोना,**

*भारत नेशनल पब्लिक स्कूल, नई दिल्ली*

*'Sarvodaya Jagat' Hindi Fortnightly*
Registered under RNI No. 35495/78, Postal Registration No. VSI-(E) 04, Valid upto 31 December 2020
Issued by S.S.P.O. Varanasi (East Division)

# 2020 की सर्वोदय दैनन्दिनी (डायरी) प्रकाशित

वर्ष 2020 गांधीजी की 150वीं तथा विनोबा की 125वीं जयंती का वर्ष है। यह हम सबके लिए एक विशेष अवसर है। विगत वर्षों की भांति इस वर्ष भी सर्व सेवा संघ प्रकाशन द्वारा 'सर्वोदय दैनन्दिनी' (हिन्दी) एवं Sarvodaya Diary (English) प्रकाशित की गयी है।

### डायरी की विशेषताएं

* सर्व धर्म प्रार्थना।
* प्रत्येक पृष्ठ पर गांधीजी की ज्ञानवर्धक व जीवनोपयोगी सूक्तियां दी गयी हैं।
* सर्व सेवा संघ के पदाधिकारियों, ट्रस्टी मंडल, समितियों व सर्वोदय मंडलों तथा देशभर के आश्रमों व गांधी संस्थाओं तथा विशिष्ट गांधीजनों के पते व संपर्क नंबर।
* वर्ष 2018-19, 2019-20 तथा 2020-21 का कैलेंडर, व्यक्तिगत विवरण के लिए जगह तथा प्लानर।
* वर्ष 2020 के पर्वों, त्यौहारों और स्मरणीय दिवसों की सूची।
* गांधी के रचनात्मक कार्यक्रमों, एकादश व्रतों और सात सामाजिक पापों का विवरण।
* महात्मा गांधी, संत विनोबा और लोकनायक जयप्रकाश नारायण का जीवन-वृत्त।
* सर्व सेवा संघ तथा सर्वोदय समाज का संक्षिप्त इतिहास।
* डायरी का आवरण पृष्ठ अत्यधिक आकर्षक, रंगीन व जिल्द बाइंडिंग।
* रोचक साज-सज्जा के साथ अच्छे कागज पर ऑफसेट द्वारा छपाई।
* डायरी डबल डिमाई साइज में उपलब्ध है।
* इसकी कीमत पिछले वर्ष की भांति रुपये 170/- ही रखी गयी है।

डायरी विक्रेताओं, भेंट देने वाले शुभचिन्तकों, गांधीजनों एवं सर्वोदय विचार प्रेमी साथियों से अनुरोध है कि अग्रिम क्रयादेश सर्व सेवा संघ प्रकाशन के नाम भिजवायें ताकि हम समय से आपको डायरी की आपूर्ति कर सकें।

### छूट

1. 1 से 50 डायरी मंगाने पर 25%।
2. 51 से 200 डायरी मंगाने पर 30%।
3. 201 से 300 डायरी एक साथ खरीद करने पर 35%।
4. 301 से अधिक डायरी मंगवाने पर 40%।

### आपूर्ति के नियम

* ट्रांसपोर्ट द्वारा भिजवाने के खर्च का आधा एवं डाकखर्च ग्राहक को वहन करना पड़ेगा।
* कमीशन एवं स्टेशन पहुंच की सुविधा दी जायेगी। ट्रांसपोर्ट द्वारा भिजवाने का आधा खर्च ग्राहक को देना होगा।
* बिकी हुई डायरी वापस नहीं ली जायेगी।
* डायरी की बिक्री पूर्णतया नकद, बैंक के मार्फत होती है।
* आर्डर भिजवाते समय अपना नाम/पता/मोबाइल नंबर और निकटतम रेलवे स्टेशन का नाम साफ-साफ लिखें।
* डायरी का आर्डर भिजवाते समय 25% रकम अग्रिम भिजवायें। डिमाण्ड-ड्राफ्ट 'सर्व सेवा संघ प्रकाशन' राजघाट, वाराणसी-221001 के नाम भेजें।
* रेलगाड़ी की सुविधा नहीं होने पर ट्रांसपोर्ट से पार्सल भेजने के लिए प्रकाशन स्वतन्त्र होगा।

**नोट : रेलवे के असुविधाजनक नये नियमों के कारण पार्सल ट्रांसपोर्ट से मंगाना बेहतर होगा। समुचित अपेक्षा के साथ!**

—**अरविन्द अंजुम**, संयोजक

**सर्व सेवा संघ (स्वत्वाधिकारी) के लिए महामंत्री, शेख हुसैन द्वारा सर्व सेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 221001 से प्रकाशित तथा महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित। संपादक : बिमल कुमार।**